मास्टर फ़िदा हुसैन

पारसी थियेटर में पचास वर्ष

सम्पादक
प्रतिभा अग्रवाल

नाट्य शोध संस्थान
४, ली रोड, कलकत्ता-२०
१९८६

MASTER FIDA HUSSAIN
Parsi Theatre Mein Pachas Varsh
Edited by **Pratibha Agrawal**

© नाट्य शोध संस्थान

आवरण
खालेद चौधरी
नल दमयन्ती नाटक में राजा नल की भूमिका में मास्टर फिदा हुसैन

मूल्य : चालीस रुपये

फोर्ड फाउण्डेशन के अनुदान से प्रकाशित
नाट्य शोध संस्थान, ४ ली रोड, कलकत्ता-७०००२० के लिए प्रतिभा अग्रवाल द्वारा प्रकाशित एवं एसकेज, ८, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००७ द्वारा मुद्रित

हमारे आगामी प्रकाशन

□ □

बांग्ला थियेटरे मंच विन्यासेर विवर्तन : **खालेद चौधरी**
सम्पादक : **शमीक बंद्योपाध्याय**

बांग्ला थियेटरेर कथाचित्र : १९००-१९४०
सम्पादक : **पवित्र सरकार**

बांग्ला थियेटरेर कथाचित्र : १९४०-१९६५
सम्पादक : **शमीक बंद्योपाध्याय**

बांग्ला थियेटरेर कथाचित्र : १९६५-१९८५
सम्पादक : **पवित्र सरकार**

नाट्य शोध संस्थान

कार्यकारिणी :

प्रतिभा अग्रवाल	निदेशक
खालेद चौधरी	सदस्य
शमीक बंद्योपाध्याय	,,
विश्वम्भर सुरेका	,,
यामा सराफ	,,

प्रकाशकीय

□ □

१९ जुलाई सन् १९८१ को उपचार ट्रस्ट, कलकत्ता ने नाट्य शोध संस्थान के रूप में अपनी गतिविधियों का विस्तार एक नयी दिशा में किया। नाट्य शोध संस्थान का प्रमुख उद्देश्य भारतीय रंगमंच के विकास को समग्र रूप में प्रस्तुत करना है। भारतीय रंगमंच के अध्ययन की दृष्टि से इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि थियेटर एक ऐसी कला है जो दृश्य-विधान एवं अन्यान्य कला-कौशल के क्षेत्र में बराबर अपने अतीत से जुड़ा रहता है, उससे कुछ ग्रहण करता रहता है और उस भित्ति पर ही आधुनिक अनुभवों की प्रतिष्ठापना करता है। थियेटर के हर पक्ष के अंतराल में उसके पूर्ववर्ती थियेटर की स्मृति छिपी रहती है।

हमारे देश में संस्थागत स्तर पर तथा शैक्षणिक स्तर पर थियेटर को स्वीकृति बहुत बाद में मिली है फलस्वरूप भारतीय रंगमंच के विकास के न जाने कितने महत्वपूर्ण प्रमाण एवं दलीलें अबतक नष्ट हो चुकी हैं। फिर भी पांच वर्षों के अल्पकाल में अप्राण चेष्टा करके संस्थान ने पर्याप्त पुराने ग्रामोफोन रेकार्ड, दुष्प्राप्य पत्र-पत्रिकाओं के पुराने अंक, नये-पुराने फोटोग्राफ, मंचसज्जा के मानक (माडल), तथा व्यक्तिगत

संग्रहों से प्राप्त पत्र, स्मारिकाओं आदि का संग्रह किया है। संस्थान का वर्तमान संग्रहालय भारतीय विशेषकर पूर्व भारतीय-रंगमंच के अध्ययन एवं विवेचन-विश्लेषण के लिए उपयोगी एक आधार भूमि प्रस्तुत करने में सक्षम है। संस्थान के ग्रन्थागार में उपलब्ध भारतीय एवं विदेशी नाटक, रंगमंच का इतिहास, रंग-दृष्टि तथा रंग-समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ किसी भी विद्यानुरागी को आकृष्ट करेंगे, उसके लिए उपयोगी होंगे।

संस्थान की गतिविधियों में रंगकर्मियों के साथ लम्बी बातचीत एवं विचार-विमर्श को विशेष महत्व दिया जा रहा है। इन बातचीतों की रेकार्डिंग एवं बाद में किए जाने वाले लिप्यंतरण के माध्यम से जो तथ्य एकत्रित हो रहे हैं, उनमें से सामग्री चुन-चुनकर उनको ग्रन्थाकार प्रकाशित करने की योजना की प्रथम भेंट है पारसी रंगमंच के अन्यतम श्रेष्ठ निर्देशक-अभिनेता मास्टर फिदा हुसैन के साथ की गयी लम्बी बातचीत पर आधारित प्रस्तुत पुस्तिका। गत वर्ष संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कार द्वारा सम्मानित वयोवृद्ध इन कलाकार के हाथों में यह पुस्तिका अर्पित करके हम स्वयं गौरवान्वित हो रहे हैं।

शमीक बंद्योपाध्याय
नाट्य शोध संस्थान

मास्टर फ़िदा हुसैन

पारसी थियेटर में पचास वर्ष

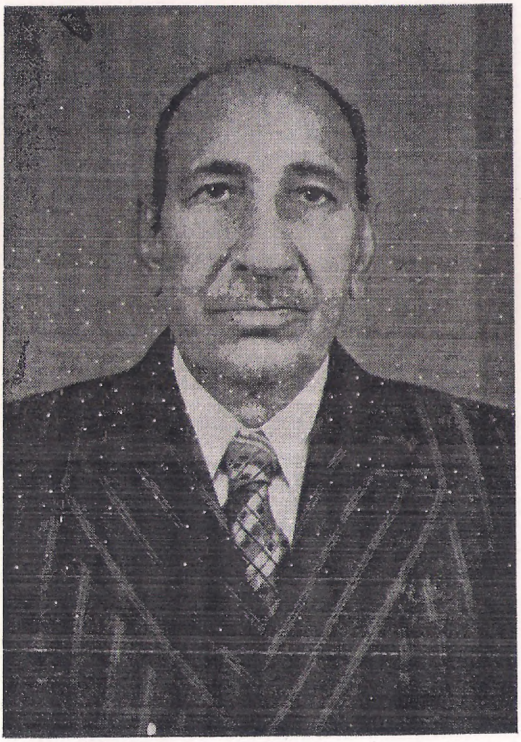

मास्टर फिदा हुसैन (जन्म १८९९-)

'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९३८) में अर्जुन की भूमिका में

'भक्त नरसी मेहता' का एक दृश्य

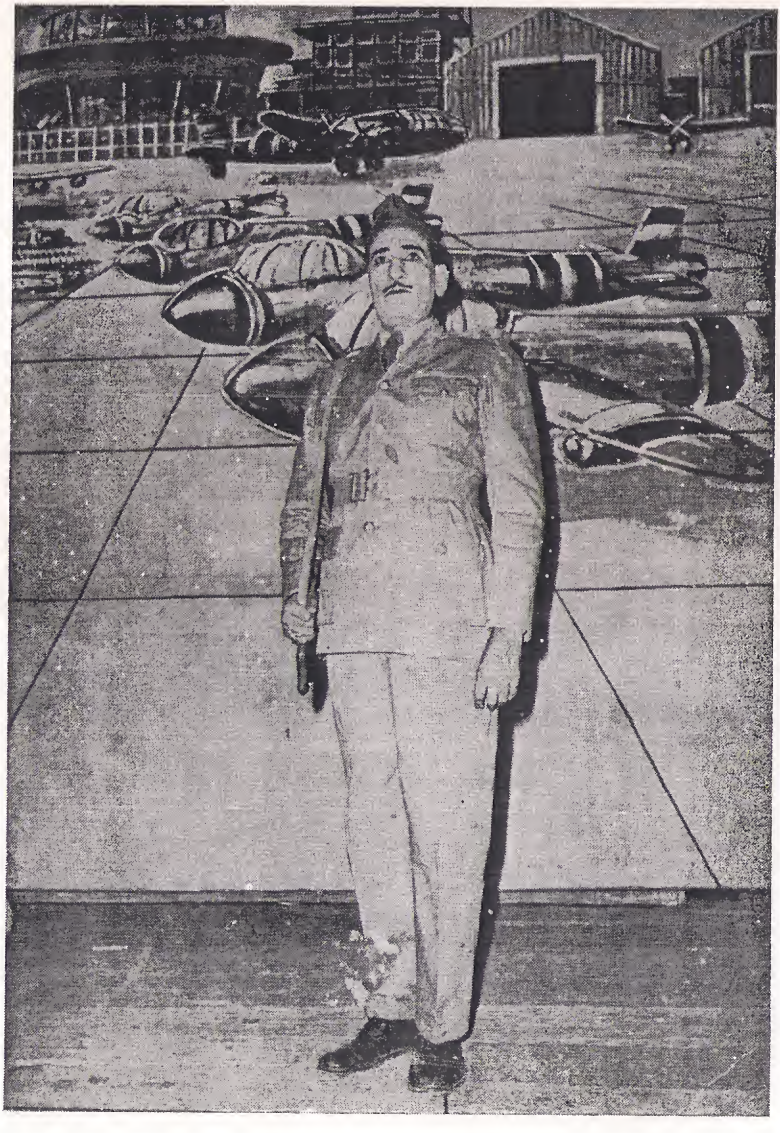

'कश्मीर हमारा' नाटक में वफादार कैप्टन हलीम की भूमिका में

'छत्रपति शिवाजी' में शिवाजी की भूमिका में

'मस्ताना' फिल्म में नायक के रूप में। साथ में दीपनारायण सिंह

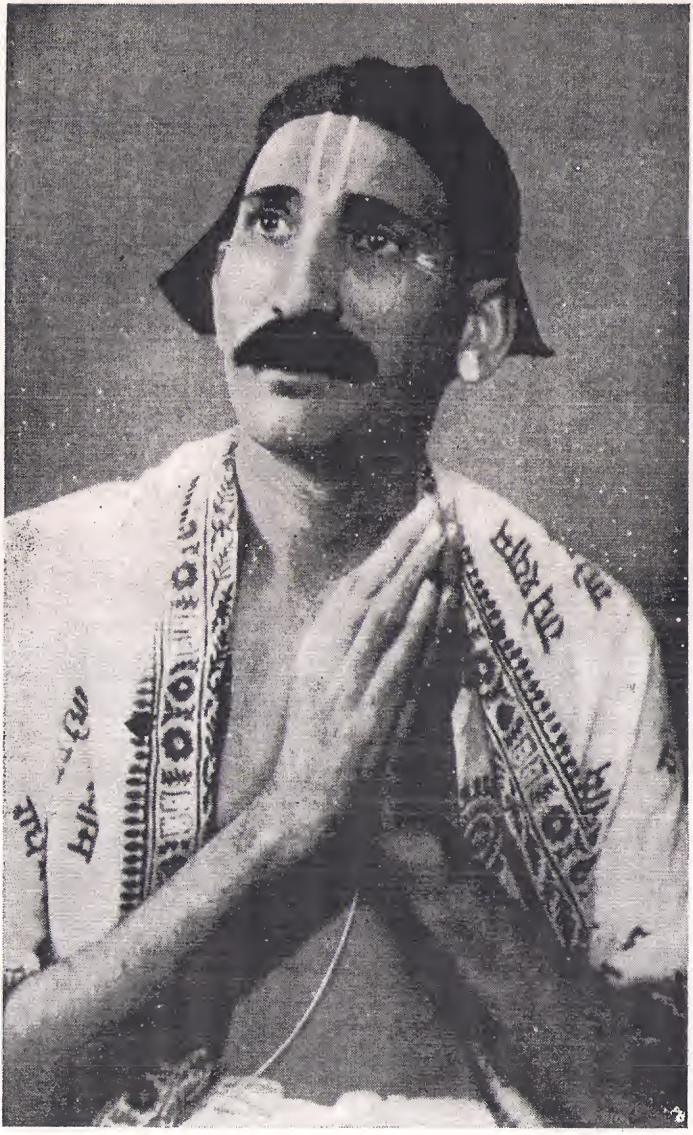

'कृष्ण-सुदामा' (१९४६) में सुदामा की भूमिका में

जिला अमन कमेटी, मुरादाबाद के अधिवेशन में फिदा हुसैन

सन् १९७८, जाड़ों के दिन। अचानक लखनऊ जाना हुआ। वहां पहुँचने पर पता चला कि शाम को उत्तरप्रदेश संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार वितरण उत्सव है। निमंत्रण पत्र भी तत्काल दे दिया गया। यथा समय रवीन्द्र भवन पहुंची। आयोजन प्रारम्भ हुआ, पर्दा खुला। मंच पर उपस्थित व्यक्तियों में से एक से अच्छी तरह परिचित थी—डाक्टर सुरेश अवस्थी। एक और व्यक्ति की ओर बार-बार नज़र उठ जा रही थी—बड़ा परिचित सा चेहरा लग रहा था पर किसी तरह न याद आ रहा था कि कौन है। तभी किसी ने हाथ में पुरस्कार वितरण उत्सव के अवसर पर प्रकाशित पुस्तिका थमा दी। झट पन्ने पलटे और मन में ही चीख पड़ी—'अरे तो ये फिदा हुसैन साहब हैं। कैसा सौभाग्य मेरा कि उनके सम्मानोत्सव में शामिल होकर मैं भी उनके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित कर पा रही हूँ।'

चौदह साल पहले सन् १९६४ में फिदा हुसैन साहब से परिचय हुआ। अनामिका द्वारा आयोजित नाट्य महोत्सव में हमने पारसी शैली में आगा हश्र के नाटक 'सीता बनवास' को प्रस्तुत करने के लिए मूनलाइट थियेटर और फिदा हुसैन साहब को आमंत्रित किया था। हमारा कार्यालय थियेटर के सामने था। बातचीत करने के लिए एक दिन शाम को आप वहां आये। लम्बा क़द, सुंता हुआ शरीर, भावपूर्ण दृष्टि और गहरी आवाज़। प्रदर्शन कब होगा, अवधि क्या होगी, क्या-क्या व्यवस्था हमें करनी होगी आदि काम की बातें पूरी की ही थीं कि चाय की केटली और कुल्हड़ लिये चपरासी हाज़िर। फिदा हुसैन साहब की ओर चाय बढ़ायी तो बड़ी विनम्रता से बोले—"मैं चाय नहीं पीता।" मैं चेहरा देखती रह गयी आश्चर्य से तो मुसकुराकर बोले—"चाय नहीं पीता, पान-बीड़ी-सिगरेट किसी चीज़ का शौक नहीं। आर्टिस्ट यदि संयम न बरते तो न तो उसकी आवाज़ बनी रह सकती है न सेहत। मैं ऐसे थोड़े ही पैंसठ साल की उम्र में नाटक करता हूँ।"

चेहरे पर आश्चर्य का तनाव धीरे-धीरे ढीला हुआ और मन ही मन उस व्यक्ति के प्रति श्रद्धा से झुक गयी। नाटक, वह भी व्यावसायिक और उसमें भी पारसी व्यावसायिक नाटक! मन में धारणा अत्यन्त स्पष्ट थी—'शेर-ओ-शायरी तथा नाच गानों से भरे हुए, अतिरंजित-अतिनाटकीय स्थितियों से ठसे हुए, आम जनता के मनोरंजन को दृष्टि में रखकर गढ़े हुए, नाना प्रकार के करिश्मों द्वारा दर्शकों को भरमाने वाले पारसी नाटक पढ़े-लिखे भले लोगों के न करने की चीज़ है न देखने की।

चरित्रगत सारे दुर्गुण सम्बद्ध व्यक्तियों में गहरे पैठे होते हैं, इनकी छाया से दूर रहना ही श्रेयस्कर है।' मन को किसी ने झकझोरा—क्या यह भी सम्भव है कि गत ३५-४० वर्षों से पारसी थियेटर से जुड़ा निर्देशक-अभिनेता संयमी हो, संयम की बात करे ?

मन में बात आयी, और साथ ही साथ समाप्त हो गयी क्योंकि उस समय तत्काल इस पर सोचने का अवकाश न था और बाद में कौन याद रखता है। पर चौदह सालों बाद ७९ वर्षीय फिदा हुसैन साहब को वैसे ही चुस्त-दुरुस्त देखकर अन्तर में फिर वही बात कौंध गयी संयम की, संयम द्वारा सेहत को दुरुस्त रखने की। सूट-बूट से लैस फिदा हुसैन ६० वर्ष से अधिक किसी तरह नहीं लग रहे थे। आयोजन के दौरान उनसे कुछ बोलने के लिए कहा गया। वे बोले, नाटक का एक छोटा सा अंश बोलकर भी सुनाया। वही बुलन्द आवाज, अंग संचालन और तेवर भी पहले जैसे ही। बार-बार लगा कि अब ये सामने से माइक को हटा देंगे, कहेंगे मुझे माइक की क्या ज़रूरत। पर खैर, उन्होंने वैसा नहीं किया, आयोजकों की मर्यादा रखी।

आयोजन के बाद भीतर मिलने गयी। परिचय दिया। मुझे देखकर पहचानने में उनकी भी वही स्थिति हुई जो मेरी हुई थी। पर नाम सुनते ही बीच के १४ वर्ष न जाने कहां ग़ायब हो गये और हम दोनों विंग में एक बेंच पर बैठ कलकत्ता का हाल-चाल देने-लेने लगे। कोई १५ मिनिट गुज़र गये होंगे। अचानक ध्यान गया, लोग इस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि हम कब अतीत से वर्तमान की ओर मुड़ें और वे फिदा हुसैन को ले जायें। अगले दिन हिन्दी संस्थान में मिलने का समय तै करके हमने विदा ली।

अगले दिन संस्थान में मिले तो ऐसा लगा कि फिदा हुसैन साहब जल्दी से जल्दी कलकत्ता का पूरा समाचार जानने को बेताब हैं—"श्यामानन्द साथ हैं न ? भूँवरमल जी ? और सेकसरिया जी ? उनके जैसे नेक आदमी बहुत कम होते हैं। मुझे बहुत मानते थे।"—आदि आदि। यह पूछने पर कि अभी भी आपकी वही रूटीन चलती है, बोले—"बिलकुल वही, पान नहीं, सिगरेट नहीं, चाय नहीं। साढ़े नौ बजे सो जाता हूं चाहे कोई मुशायरा हो, महफ़िल हो, शादी हो। खाना कहीं खाता नहीं घर के सिवाय। साढ़े चार बजे उठ जाता हूं। साढ़े चार बजे उठा, पौने पांच बजे तक सब—साढ़े चार बजे उठकर सीधे लैट्रिन चला जाता हूं, चौबिस घन्टे की छुट्टी। उसके बाद कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ी ज़िन्दगी में कि दुबारा जाना पड़ा हो। और घूमने निकल जाता हूँ। चार मील घूमकर आता हूं और सुबह की नमाज़ में शामिल होता हूं। पूजा-पाठ अपनी कर ली। उसके बाद आकर के मेरी गाय है एक,

पांच-६ बरस से है, प्यारी गाय है, अच्छी क़द्दावर, आठ किलो दूध देती है। उसकी तमाम सफ़ाई वग़ैरह ड्रेस बदलकर वो काम करता हूँ। उसकी सानी करता हूं, उसकी ख़िदमत करता हूं, सरोजनी नाम है उसका। तो ये कार्यक्रम है। साढ़े सात बजे नाश्ता कर लेता हूं। नाश्ते में सिर्फ़ दो टोस्ट-मक्खन और पनीर, इसके सिवाय और कुछ नहीं। दोपहर में एक बजे खाना खाता हूं। बीच में कोई चीज़ लेता नहीं। एकाध दफ़े पानी पीता हूं। सुबह जो टोस्ट लेता हूं उसके साथ गाय का दूध लेता हूं एक गिलास। शाम को कोई नाश्ता नहीं, कुछ नहीं। ७.३०—८ बजे खाना खा लेता हूं। और रात के खाने के बाद भी थोड़ा टहलता हूं, साढ़े नौ बजे सो जाता हूं। ये क़ानून है, इसी पर अमल कर रहा हूं और ठीक से चल रहा है। अभी तक तो मशीन गाड़ी—"मैंने बीच में ही काटकर कहा—"चलेगी, चलेगी। अभी आपकी मशीन का कुछ नहीं बिगड़ा है। लगता ही नहीं कि आपकी इतनी उम्र हो चुकी है।"

बोले—"११ मार्च को ७९ का पूरा हो जाऊँगा। सन् १८९९ की मेरी पैदाइश है। इन लोगों ने १९०१ ग़लत छाप दिया है।" फिर ज़रा रुककर बोले—"सेहत से बढ़कर कुछ नहीं। सेहत है तो सब है और सेहत बनती है संयम से। मैंने ज़िंदगी में उसका सदा ख्याल रखा—काम पर रहा तब भी और अब जब घर पर आराम पर हूं तब भी। एक बात बताऊँ बेटा, आदमी यदि अपनी हेल्थ को नहीं सम्हालेगा तो बड़ा दुख उठावेगा क्योंकि फिर बुढ़ापा बड़ी मुश्किलों से कटता है। जवानी में तो लोग चारों ओर से घेरे रहते हैं, आगे-पीछे घूमते रहते हैं पर उम्र ढलने के बाद कोई बात नहीं पूछता। तब बड़ी मुश्किल होती है। एक और बात है। जवानी में हम केवल अपनी-अपनी सोचते हैं, अपनी मौजमस्ती में रहते हैं, अपने शराब-कबाब में डूबे रहते हैं। न घरवालों से मतलब रखते हैं न किसी और से—खासकर प्रोफेशनल एक्टर। जब बुढ़ापा आता है, तब सबकी ज़रूरत महसूस करते हैं। तो बेटा, ज़िंदगी भर जिनकी ओर नज़र उठाकर देखा नहीं, जिनके लिए कुछ किया नहीं, जिनके रंजोग़म में शरीक नहीं हुआ वे बुढ़ापे में मेरी ओर क्यों ध्यान देंगे। मैंने अपनी ज़िंदगी में इन दोनों बातों का बहुत ख्याल रखा। घरवालों से सदा रिश्ता क़ायम रखा, बराबर अपनी ज़िम्मेदारी निभायी हर तरह से। जब जैसा मौक़ा मिला साल में एक बार, दो बार, तीन बार घर जाता रहा, बराबर उन्हें रुपये भेजता रहा और अपनी सेहत को ऐसी रखने की कोशिश की कि जहां तक मुमकिन हो किसी पर बोझा न बनूं। अपनी ज़िंदगी साधारण तरीक़े से निभायी लेकिन कुछ बचाया ज़रूर—चाहे ५ रुपया महीना चाहे १०० रुपया महीना लेकिन बचाया ज़रूर। इसलिए किसी के सामने कभी हाथ फैलाने की ज़रूरत महसूस नहीं हुई। यही तमन्ना है कि अपना काम तो सदा अपने हाथों करता ही रहूं, जो बन पड़े वह ख़िदमत दूसरों की भी करता रहूं।"

मेरे यह पूछने पर कि "आप इतने लम्बे अरसे तक बाहर रहे, आपने एक बिलकुल भिन्न जगत में ज़िंदगी बितायी। अब घर का वह माहौल, बाल-बच्चों का शोरगुल, अपेक्षाकृत खाली ज़िंदगी कैसी लगती है" फिदा हुसैन साहब की आंखों में चमक आ गयी। बोले—"बहुत भली लगती है। दो लड़के हैं, बहुएं हैं। दो लड़कियां हैं। सबकी शादियां कर दीं। सबके बच्चे हैं। पर निकल आये हैं अब तो, मैं परदादा-परनाना बन गया हूं। मेरी जो पोती है उसके यहां बच्चा है, बड़ा पोता है, उसके यहां भी बेटा है। ब्रासवेयर का काम है। भारत आर्ट इंटरप्राइज़ेज़ के नाम से जो फर्म है, उसका मालिक मैं हूं। मगर वो काम मैं नहीं जानता हूं। काम लड़के ही जानते हैं, वे ही सब करते हैं। दोनों पढ़ रहे हैं। एक हिन्दू कालेज मुरादाबाद में और एक उग्रसेन कालेज में है। दोनों कालेज के अलावा फर्म का काम भी सीखते हैं, करते हैं। मैंने देखा है बिजनेस में डालना ही चाहिए। तो इस तरह ज़िंदगी गुज़री मूनलाइट छोड़ने के बाद। जो माहौल चाहता था वह तो था एकांत का। शुरू से अकेले रहने की आदत। वह न हुआ, उसमें थोड़ा फरक पड़ गया क्योंकि वो जो छोटे-छोटे नाती-पोते होते हैं वो तो जानते नहीं मेरा रोब कि डाइरेक्टर था कि कौन था। वो तो अपनी मर्ज़ी से चलाते रहते हैं, और उनके डाइरेक्शन में मुझे चलना पड़ता है। उनके मोहजाल में भी पड़ गया हूं। और सच पूछिए तो अब तो वह मोहजाल भी प्यारा लगने लगा है। दूसरे यह कि जहां तक जीविका का सवाल है वहां कोई फ़िकर रही नहीं। ख़ुद अपने पैरों पर सब खड़े हैं। इत्तिफ़ाक़ से लड़कियाँ भी बड़ी सुखी हैं। दामाद दोनों का अपना काम है बर्तन का, फैक्टरी है। हमारे दो फर्म हैं—एक के मालिक हम और बहूरानी हैं, दोनों पार्टनर हैं। दूसरा फर्म है अंसार एण्ड कम्पनी। अंसार बड़े लड़के का नाम है, छोटा अयूब है। वो दोनों उसके अन्दर हैं। इनकमटैक्स वग़ैरह की वजह से यह सब करना पड़ता है। जीविका की कोई फिकर नहीं है। असल में आदमी को चिंता खा जाती है। मूनलाइट में जब था तब बड़ी फिकर रहती थी। नौकरी में जब भी रहा, फिकर रही। नौकरी और वह भी थियेटर लाइन की नौकरी। आपको ताज्जुब होगा कि पचास साल काम किया पर पचास साल में एक दिन भी बेकार नहीं रहा। कभी मौक़ा नहीं आया बेकार रहने का। एक जगह से छोड़ा तो पहले दूसरी जगह नौकरी तैयार रही। तो बस, ऐसे ही चलता रहा।"

कुछ देर और इधर-उधर की बातें होती रहीं—कलकत्ता-बम्बई के थियेटर हालों की, कलाकारों के अनुशासन की व्यावसायिक दलों की कमज़ोरियों की। क़रीब एक घंटा बीत चुका था। फिर शीघ्र ही मिलने की इच्छा मन में लिए हम दोनों उठ खड़े हुए।

कुछ बानक ऐसा बना कि इस बार ४ साल बाद ही फिदा हुसैन साहब से भेंट होने का अवसर आ गया। और भेंट भी ऐसी कि १५ दिनों तक हम साथ रहे। जुलाई १९८१ में नाट्य शोध संस्थान की स्थापना हुई और अप्रैल १९८२ में हमने उसकी ओर से फिदा हुसैन साहब को आमंत्रित किया। लिखा, आप कलकत्ता आवें, कम से कम एक सप्ताह रहें ताकि सबसे मिल-जुल सकें। मेरे यहाँ भी रह सकते हैं और यदि आपको कोई असुविधा होगी तो जहां, जैसे कहेंगे, व्यवस्था कर दूंगी। असुविधा इसलिए लिखी थी कि एक तो मेरा फ्लैट सातवें तल्ले पर और जब देखो तब बिजली चली जाती है। दूसरे सोचा पता नहीं क्या, कैसी आदतें हों। बूढ़े आदमी, आराम मिले, न मिले। जल्द ही जवाब आया। लिखा था—"मैं ज़रूर आऊँगा। अमुक तारीख़ को बिसेसर बाबू (मूनलाइट थियेटर के मालिक) के यहां एक विवाह है कलकत्ता में, उसमें भी शामिल हो जाऊँगा, लोगों से मुलाक़ात भी हो जायेगी। सन् १९४८ में कलकत्ता छोड़ा तब से आना ही नहीं हुआ।" करीब १५ दिनों बाद की एक तारीख़ लिखी कि उसके आस-पास जब की सीट मिले करवा देना। यथा समय पहुंचने की तारीख़ व ट्रेन की सूचना मिली। सुबह लेने स्टेशन गयी। पंजाब मेल के लिए हम निर्धारित प्लैटफार्म पर प्रतीक्षा करते रहे और गाड़ी दूसरे प्लेटफार्म पर आ गयी। अचानक इस तथ्य का पता चला तो दौड़े-दौड़े उस प्लैटफार्म पर पहुंचे। प्लैटफार्म के उस छोर तक चक्कर लगा आये पर कोई दिखा ही नहीं। लौटे तो प्लैटफार्म से बाहर निकलने के दरवाज़े के पास एक व्यक्ति दिखे, सफ़ेद पायजामा-कुर्ता पहने। पीछे से लगा हो न हो फिदा हुसैन साहब हों। पास पहुँचे तो अंदाज़ सच निकला। किसी को स्टेशन पर न देख वे कुली के सिर पर सामान रखवाकर चल पड़े थे। सन् १९७८ के फिदा हुसैन साहब बदल गये से लगे। कमर झुक गयी थी, हाथ में छड़ी थी। ख़ैर घर आये। पहले दिन तो बिजली थी, लिफ्ट से ऊपर आये। उनका कमरा बतलाया। मेरे जेठ जी का पोता संदीप उन दिनों मेरे ही पास था। उसने उनकी देखरेख का काम संभाला। दोपहर बीतते न बीतते लगा कि कोई अपरिचित नहीं वरन् पुराना परिचित व्यक्ति घर में आया है। और उस परिचित व्यक्ति ने धीरे-धीरे परिवार के सदस्य का स्थान ग्रहण कर लिया। मैं पिता तुल्य फिदा हुसैन साहब को बाबूजी या चाचा जी कहकर संबोधन तो नहीं कर पायी पर संदीप के वे बाबा ज़रूर बन गये। वह रोज़ उनके फोड़े की ड्रेसिंग करता, उनकी छोटी-मोटी सेवा के लिए तत्परता से हाज़िर रहता।

कलकत्ता आकर वे फोड़े के कारण घूमने तो नहीं जा पाये पर सुबह पांच बजे उठकर कमरे में ही टहल लेते। मैं भी ६ बजते न बजते तैयार होकर चाय लेकर उनके कमरे में जाती तो बड़े ख़ुश होते। अब वे सुबह शाम दो वक्त चाय पीने लगे थे। चाय पीते-पीते हम इधर-उधर की बातें करते रहते, क़रीब एक घण्टा का

समय तो गुज़र जाता। फिर मैं कुछ अपना काम करती, वे अपने नित्यकर्म से निवृत्त होते। सुबह नाश्ते में वही दूध और टोस्ट, खाने में दोनों वक़्त दाल-रोटी-तरकारी। पहले दिन दही से भरा कटोरा देखकर बड़े ख़ुश हुए। बोले—"यह तुमने बहुत अच्छा किया।" बहुत आग्रह करती तो भी बीच में कभी कुछ लेते नहीं। बस वही बँधा नाश्ता, बँधा खाना।

दो दिनों बाद सुबह संस्थान में फिदा हुसैन साहब और सीता देवी का कार्यक्रम था। सीता देवी लम्बे अरसे तक मूनलाइट थियेटर से जुड़ी हुई थीं और उसके अनेक नाटकों में अभिनय किया था। रूप, कंठ एवं अभिनय-क्षमता सभी में अद्वितीय सीता देवी अपने मास्टर जी को देखकर बड़ी प्रसन्न थीं। पैर छूकर प्रणाम किया, बड़े संकोच के साथ बैठीं। समाचार पत्रों से समाचार पाकर अनेक पुराने लोग सभा में आये थे। सबसे दुआसलाम करके, कुशल-समाचार पूछने का सिलसिला कुछ देर चलता रहा फिर कार्यक्रम शुरू हुआ। फिदा हुसैन साहब से उन परिस्थितियों और घटनाओं की चर्चा करने का अनुरोध किया गया जिनमें वे पले, बढ़े और थियेटर से जुड़े तो वे वर्तमान से अतीत की ओर सहज ही मुड़ गये। और खुली पुस्तक जैसी अपनी जीवन-गाथा के पन्ने खुले आम पलटने लगे। उस दिन की बातचीत और बाद में कई घटों तक हुई बातचीत के आधार पर पेश है एक सच्चे कलाकार की कहानी, पारसी थियेटर के एक महत्वपूर्ण हिस्से की कहानी—कुछ मेरी जुबानी कुछ उनकी जुबानी।

फिदा हुसैन साहब को बचपन से गाने का शौक़ था। कहीं से सुर कान में पड़ा तो फिर उनके लिए अपने को रोक पाना कठिन होता था। और जन्म हुआ था एक ऐसे ख़ानदान में जो हाजी-हाफ़िज़ों का था और जिसमें गाने-बजाने की सख्त मुमानियत थी। अंदाज़ लगा सकते हैं रोज़ के वाक़ये का। कहीं गाने-बजाने की भनक पड़ी और फिदा हुसैन दौड़ पड़ते थे सबकी आंखें बचाकर। पर पता तो चल ही जाता था और खूब पिटाई होती थी। पिटाई होती थी, ये उस वक़्त तौबा भी करते थे पर फिर जहां कानों में सुर पड़ा कि सब कुछ भूल जाते थे। सन् १९११ का वाक़या है। दिल्ली में पंचम जार्ज का दरबार हुआ था। देश के कोने-कोने से फ़नकारों को बुलाया गया था दिल्ली तमाशा दिखाने के लिए। दरबार ख़त्म होने पर सब अपनी-अपनी जगह को लौटे तो रास्ते में जगह-जगह रुक-रुककर तमाशा भी दिखाते चले। उनमें कठपुतली का तमाशा दिखानेवाले थे, नट का खेल दिखानेवाले थे, जादू का खेल दिखानेवाले थे। दिल्ली से लौटनेवाले मुरादाबाद भी पहुँचे और एक दिन इनके मुहल्ले में ही कठपुतली का खेल हुआ। खाट खड़ी करके, चादर बांध कर खेल दिखलाया गया। कहानी थी किसी बादशाह की। बादशाह था, उसका

वज़ीर था, सिपहसालार था, सेनापति था। कुछ कहासुनी हुई, एक दूसरे से झगड़ा हुआ और तलवारबाज़ी हुई। अच्छा लगा। खेल में कहानी थी और वह मन पर ऐसी छा गयी कि घर आकर वही हरकतें शुरू कर दीं। कहने का मतलब यह कि नाटक और एक्टिंग की शुरुआत यहीं से हुई। ख़ैर, यह क़िस्सा तो आया-गया खत्म हो गया पर गाने का शौक बना रहा। रोज़ कहीं न कहीं सुनने पहुँच जाते और घर में पता लगने पर पिटाई होती। मां का तब तक स्वर्गवास हो चुका था पर पिता थे, बड़े भाई थे। सबसे बड़े भाई की शादी भी हो चुकी थी। एक बार जब वे फिदा हुसैन की हरकतों से तंग आ गये तो उन्होंने अपनी बीबी के हाथों इन्हें पान में सिन्दूर दिलवा दिया ताकि आवाज़ बंद हो जाये। वह क़िस्सा फिदा हुसैन साहब की ज़ुबानी सुनिए।

"जब मैंने गाने का शौक़ नहीं छोड़ा तो तंग आकर भाई साहब ने भाभी के जो मुझे बहुत प्यार करती थीं, उनके हाथों से मुझे पान में सिंदूर दिलवा दिया कि आवाज़ ही ख़त्म हो जाये। और लोग भी एतराज करते थे। तो मेरी आवाज़ बन्द हो गई। क़रीब चार-पांच महीने तक मेरी ये हालत रही कि मैं सायं-साय बोलता था, सर पटकता था। मगर आवाज़ ही नहीं। और दवाइयाँ जितनी कर सकता था कीं। लेकिन कुछ हुआ नहीं पर लगन मेरी थी। मैं एकान्त में रोता था और ईश्वर से प्रार्थना करता था कि मुझे दुनिया की कोई चीज़ नहीं चाहिये बस मेरा सुर ठीक हो जाये। पर वह ठीक ही न हो। कुछ रोज़ के बाद जन्माष्टमी पड़ी। हमारे मुरादाबाद में किला का मन्दिर है। वहां जन्माष्टमी के समय मण्डलियाँ आती हैं, सन्त लोग आते हैं। तो वहां एक सन्त आये हुए थे। उनकी बड़ी हस्ती थी। मैं इस तलाश में रहता था कि कोई मिले, मुझे कोई उपाय बता दे। मतलब बड़ी बुरी हालत थी। तो मैं वहां पहुँच गया। चौरासी घंटा मुहल्ला है मेरे मुहल्ले के पीछे ही, वहीं पहुँच गया। देखा, धूप में चबूतरे के ऊपर एक विशाल मूर्ति, बहुत सफ़ेद दाढ़ी। वो तकिया लगाकर चारपाई पर बैठे थे और एक आदमी उनका पैर दबा रहा था। वहाँ बल्लम का पहरा था, भाला लेकर संतरी खड़ा था। मैं अन्दर दरवाज़े में जाने लगा तो उनलोगों ने रोक दिया और मैं परेशान कि क्या करूं। फ़ासला था फिर भी उनकी नज़र मुझ पर पड़ गई। उन्होंने कहा 'आने दो, आने दो।' मतलब ये कि जानते हुए भी कि मुसलमान है इसीलिए इसको रोक रहे हैं, उनके मुँह से निकला 'आने दो, आने दो,।' मैं पास आ गया। आने के साथ उनके पैर पकड़कर, पैर फैला था इतना, रोने लगा। और लोगों ने कहा कि, 'ठहरो, इसे अलग करो' तो उन्होंने कहा 'नहीं, रो लेने दो, इसका मन हलका हो जाने दो।' मैं दो-तीन मिनट तक रोता रहा। उसके बाद एक शेख़ खड़े थे वहाँ पे उन्होंने कहा—'साहब इसका कंठ ख़राब हो गया है। इसका कंठ बहुत अच्छा था। भजन-वजन में भी कभी-कभी आता था ये।'

तो बोले 'अच्छा'। पास बुलाया, बोले—'कैसे हुआ'। सब बता दिया तो बोले—'अच्छा, दवा तो मैं ख़ास कोई नहीं बताऊंगा। एक साधना बताता हूं और सम्भव है कि उससे तुमको फ़ायदा पहुंचे, लाभ मिल जाये। दवा में सिर्फ़ ये है कि जिसने तुमको सिन्दूर दिया है (भाभी ने) उसके हाथ से ही पक्का केला घी में तलवाकर तीन रोज़ तक खाओ। और साधना यह कि कुएँ के ऊपर लेटकर, गर्दन कुएँ में लटकाकर जब तक तुम्हारा सुर साफ़ न हो जाये सुर भरो, आ-आ करते रहो।' मैं लौट आया। मकान के बाहर कुँआ था। वहाँ तो मैं ये कर नहीं सकता था। पास ही एक जगह थी जहां कोई नहीं जाता था। वहाँ दसमा घाट है। वहाँ के लिए मशहूर था कि खजूर पर कोई भूत रहता है। लेकिन मैं तो भूत-वूत को नहीं मानता था। मैं दोपहरी में वहाँ पहुंच जाता। एकान्त रहता। कुएँ पर लेटकर आ-आ करता। कोई १५-२० रोज़ तक यह करता रहा पर कोई फ़ायदा नहीं पहुंचा। केले की दवा भी कर ली थी लेकिन कुछ हुआ नहीं। पर मैं हिम्मत नहीं हारा। उन्होंने कहा था जब तक न हो करते रहना। मुझे उनका कहना ख्याल में था। कोई २० रोज़ के बाद २१वें दिन मुझे मालूम हुआ कि आवाज़ कुछ शुरू हुई। २६ दिन के अन्दर-अन्दर मेरा गला साफ़ हो गया, जैसा सुर वैसा फिर हो गया।"

फिर तो शौक़ और बढ़ गया। गाने की महफ़िल, क़व्वाली, नौटंकी सबमें जाने लगे। इधर जाना चालू उधर पिटाई चालू। वह बन्द ही नहीं होती थी। बराबर कोई न कोई शिकायत कर देता था। जहाँ तक पिता का सवाल था वो बहुत प्यार करते थे। फिदा हुसैन के बड़े भाई का भी देहान्त हो गया था। उन को कोई औलाद नहीं थी। लड़कों में अब सबसे बड़े यही थे। दो छोटे भाई और एक बहन छोटी। तो पिता का प्यार बहुत ज़्यादा था और उन्होंने कभी नहीं मारा, ज़िन्दगी में हाथ ही नहीं लगाया मगर और जो लोग थे, वे सब कसाई के समान थे। जहाँ चाचा को ख़बर लगी कि गाना सुनने गया था, बुरी तरह धुलाई करते थे। ऐसे दो साल ये पिटते रहे और गाना सुनते रहे। उन दिनों मुरादाबाद में क्लब थे दो तीन। सन् १७ में लड़ाई के ज़माने में राय दयाल का क्लब मशहूर था। उसमें मुरादाबाद के सब अच्छे लोग थे। वहाँ ६ महीने तक ख़ूब ट्रेनिंग हुई, ख़ूब पार्ट सीखा। पहले पहल फीमेल पार्ट किया। पहले दिन के हादसे के बारे में फिदा हुसैन साहब बोले—"शाही फ़क़ीर ड्रामा था। बहुत बड़ा हाल था। पब्लिक फ्री थी। क्लब का प्रोग्राम था। टिकट का कोई सवाल ही नहीं था। पहले दिन की कामयाबी यह रही कि जब स्टेज पर निकला तो पब्लिक का इतना ख़ौफ आया कि मुझे बुखार हो गया। पार्ट भूल गया। अन्दर से दो-दो प्राम्प्ट वाले चिल्ला रहे थे 'अबे बोल, अबे बोल' पर मेरे मुंह से बोल ही नहीं फूटा। अन्त में पब्लिक ने ही निकाल दिया स्टेज से। लोग बोले जाओ निकलो, निकलो, निकलो। ये पहला दिन था। एक प्राम्पटर थे, मदीन ख़ाँ साहब। उन्होंने

उर्दू की प्राम्प्ट की किताब फाड़ डाली। ग़ुस्से में बोले—'काहे को लाये इसे यहां पे, लुटिया डुबो दी।' लेकिन एक दूसरे प्राम्प्टर थे, कर्त्ता धर्त्ता, राम बिहारी भाई। उन्होंने सब को समझाया कि —'भाई बड़े-बड़ों के हौसले पस्त हो जाते हैं। पब्लिक से हाल भरा हुआ था बिचारा घबरा गया। इसे मौक़ा नहीं मिला था कभी।' ख़ैर दुबारा रिहर्सल हुई। दुबारा जब स्टेज पर निकला तो कामयाब हो गया, यह बात ख़त्म हो गयी।"

और इस तरह फिदा हुसैन साहब के लिए थियेटर का रास्ता खुल गया। मुरादाबाद से सबसे पहले न्यू एल्फ्रेड कम्पनी गये। न्यू एलफ्रेड कम्पनी दिल्ली में थी जिसका हिन्दी नाटक अभिमन्यु उन दिनों चल रहा था। अभिमन्यु सन् १९१६ में निकला था। उस नाटक का उद्घाटन पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने किया था। उस कम्पनी में ख़ास बात यह थी कि उसमें कोई औरत नहीं थी। उस ज़माने में औरतें मिलती भी मुश्किल से थीं और जो मिलती थीं वो पेशा करनेवाली होती थीं। न्यू एलफ्रेड में महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, गुरु शंकराचार्य, मालवीय जी आदि के जाने का सवाल इसलिए था कि इस कम्पनी में सनातनधर्मी खेल हुआ करते थे और पाक-साफ़ कम्पनी थी। हुआ यह कि फिदा हुसैन के क्लब के प्रेसिडेंट थे साहू महाराज नारायण। उनका न्यू एलफ्रेड पारसी कम्पनी के मालिक माणिक साह बलसारा से बड़ा दोस्ताना था। लिहाज़ा इन्हें महाराज नारायण ने देहली भिजवा दिया। घर से कहे बग़ैर भाग गये फिदा हुसैन। बात १२ जनवरी सन् १९१८ की है। उस दिन सुबह उनको बहुत मारा गया था, अंगूठा फाड़ दिया था मारते-मारते। इतना ही नहीं हाथ से बांधकर पेड़ में टांग दिया था और बेंत मारते थे कि 'तुम तौबा करो कि यह लाइन छोड़ दोगे।' एक साल पहले फिदा हुसैन की शादी हुई थी। और शादी-शुदा आदमी के लिये इस लाइन में जाना तो बहुत बुरा था। तूफ़ान मच गया था बिरादरी में कि उनका लड़का तो आवारा हो गया, ख़राब हो गया। और कोई ऐब था नहीं। मेहनती थे, बाप के साथ मेहनत भी करते थे। प्रेस में काम करते थे। लेकिन शौक़ था सो था। तो उस दिन जब बहुत मार पड़ी तो फिदा हुसैन ने तय कर लिया कि अब या तो मर जाएंगे या घर छोड़कर भाग जायेंगे। इत्तिफ़ाक़ से उसी दिन मौक़ा भी मिल गया। उनके वालिद के दो रुपये चाहिये थे एक आदमी से मुहल्ले में। वालिद ने कहा—'जाओ, दो रुपये माँग लाओ वजीद ख़ां से।' ये रुपये माँगने गये तो उन्होंने दो रुपये दे दिये। और बस, बात बन गयी। फिदा हुसैन फिर घर वापिस नहीं गये। सीधे क्लब पहुंचे। क्लब वालों की तरफ़ से तय था कि इसको कहीं भी अच्छी जगह पर लगा देना है क्योंकि घरवाले मानेंगे नहीं और इसकी ज़िन्दगी बरबाद होगी। यों तो मुरादाबाद में बहुत तरह के काम थे लेकिन जहां इनको काम पर बिठाया गया था वहां इनका मन नहीं लगता था। असल में ये घर से बहुत परेशान थे। और उसका

ख़ास कारण चाचा जान थे। बहुत ज़ालिम आदमी थे। जब फिदा हुसैन कम्पनी में भाग गये तो चाचा वालिद से भी नाराज़ हो गये। और बोले 'तुम भी मर जाओ तो अच्छा है।' क्योंकि बेटे के इश्क़ में वालिद रोते थे। वे फिदा हुसैन से बहुत मोहब्बत करते थे। किसी ने कह दिया कि फिदा रामनगर मण्डी में है तो वे वहां दौड़े जाते। कोई कहता अमरोहे में है तो २० मील वहां भागते। १० मील रामपुर गये पर कहीं पता नहीं चला। इधर फिदा हुसैन कम्पनी के साथ घूम रहे थे। कुछ दिनों बाद मेरठ की नौचन्दी में गई कम्पनी। प्रदर्शनी में एक महीना ड्रामा करके देहली से वहां गई। नौचन्दी में इन्हीं के मोहल्ले का एक लड़का यामीन खेल देख रहा था। ये जो गाने को निकले तो उसने पहचान लिया कि ये तो यहां पे है। झट उसने मुरादाबाद में आकर उनके वालिद से कहा कि 'फिदा हुसैन तो वहां मेरठ में थियेटर कम्पनी में ख़ूब मजे से है, पब्लिक में खूब हल्ला है उसका।' बस फिर क्या था। मुरादाबाद के सिटी मजिस्ट्रेट फिदा हुसैन के वालिद पर बहुत मेहरबान थे। उनकी कोठी पर जाकर रोये, बहुत बुरी तरह से रोये तो उन्होंने कहा—'तुम रोते क्यों हो ? मैं उसका इन्तज़ाम करता हूं।' कोर्ट में उनको बुलाया और फिदाहुसैन के नाम का वारंट काटकर दे दिया उनके हाथ में। कहा—'जाओ मेरठ, पहले वहां कोतवाली में जाओ।' तो मेरठ जाकर के पहले कोतवाल से मिले। कोतवाल ने वहां पर हेड कांस्टेबल दिया, एक सिपाही दिया। बोले—'पकड़ कर लाओ उसको, उस कम्पनी के अन्दर है।'

अब कैसे वे पकड़ में आये यह क़िस्सा फिदा हुसैन साहब से ही सुनिए।

"कम्पनी के दो पठान दरबान थे सैयद अकबर और नसरुल्ला। उनका टाइम था सुबह का। वालिद सुबह ही सुबह आये। उससे पहले थोड़ा टाइम था हाथ में तो—मेरठ की नौचन्दी में सड़क के ऊपर एक मसजिद है। उस मसजिद में नमाज़ पढ़ने गये। दुआ मांगते समय इतनी ज़ोर से रो पड़े कि आसपास जो क़साई नमाज़ी नमाज़ पढ़ रहे थे वे पूछने लगे कि क्या बात है। तो बोले—'हमारा लड़का है इस कम्पनी में··।' सब क़साई बोले—'कम्पनी को आग लगा देंगे, क्या समझते हैं। अभी लड़के को दिलवा देंगे। तो वे बोले—'नहीं। अगर वो फिर चला गया, भाग गया तो मैं मर जाऊंगा।' जब पुलिस आ गयी मसजिद पे तो वे पुलिस को लेकर आये। आये तो पठान से कहा पुलिस ने कि 'फिदा हुसैन से कहो कि तुम्हारे वालिद आए हैं।' बस, पठान ने अन्दर आकर कहा। कैम्प था, डेरे लगे थे। बोला कि—'ऐ तुम्हारा वालिद आया है।' बस सुनते ही कम्बख्ती आ गयी। मतलब उनसे डरते नहीं थे मगर ये था कि मां मरी थी; बड़ा भाई मरा था, उन पर सदमे बहुत थे। और उनकी शक्ल देखकर हमें तो तरस नहीं आया अपने शौक़ में मगर और देखता तो देखता कि उनकी आंखें सब सूजकर ख़राब हो गयी थीं रोते रोते। महीनों से रोते थे रात को रोज़। हम आए, कुछ दूर से देखा। खड़े थे शेरवानी पहने हुए। बहुत उमर थी। तो

हमारे दिल में यही ख्याल आया कि मर जाये तो अच्छा। किसी सूरत से इसको मरवा दें तो हमें नाटक करने को मिलेगा। यानी यह हालत थी। हमने वहीं से नसरुल्ला से कहा—'इसको निकाल दो इसको मत घुसने देना।' इतने में मालिक कम्पनी माणिकलाल आ गये पीछे से। पूछा—'क्या है ?' तो देखा—वालिद। तुरन्त माणिक सेठ ने कहा—'ऐ चलो, आगे बढ़ो। वालिद तुम्हारे आये हैं।' हम आगे बढ़े तो हमको देखकर वालिद चीखे और बेहोश हो गये। क़रीब दो महीना १० रोज़ हो हो चुके थे हमें घर छोड़े। चीख कर रो पड़े, रोये और चीखकर बेहोश हो गये। फ़ौरन पठान और मालिक उन्हें उठाकर अन्दर लाये और बिजली पंखा वहां पर दिया। उनको होश आया तो उनको बहुत तसल्ली दी कि 'आप जैसा चाहेंगे वैसा हीं होगा। आप घबड़ाइये मत, आपका लड़का किसी अच्छी जगह में आया है, अच्छे लोगों में आया है।' दुख क्या था उनको कि हमारे ससुर जो थे उन्होंने पूरी बिरादरी की पंचायत करके हमारे चाचा को और हमारे पिता को बिरादरी से निकाल दिया था। तो माने सबसे बड़ा सदमा बिरादरी से निकालने का था। यह सदमा इतना बड़ा होता है कि आदमी बरदाश्त नहीं कर सकता। बिरादरी से, जाति से बाहर कर दिया तो कहने लगे हमसे—'हम बिरादरी से निकाल दिये गए हैं और तुम्हें हम वापिस लिये बग़ैर नहीं जाएंगे, मर जायेंगे यहीं पर।' हमने कहा—'आप हमको ले जाइएगा तो हम मर जायेंगे। हम थियेटर में काम करेंगे। आप और जो कहेंगे मुझे कुबूल होगा।' अकेले में बातें हुईं। उन्होंने हमको बहुत समझाया कि यह लाइन ऐसी है, वैसी है। उनको उस कम्पनी का तो मालूम नहीं था। हक़ीक़त में तो वह कम्पनी नहीं थी, एक कालेज या यूनिवर्सिटी कहना चाहिए उसे। वह तो जो आदमी बिगड़े हुए हों, उनको सुधार दे। मिलिटरी कैम्प कहा जाता था उसको। आख़िर में जब हम नहीं माने तो बहुत सबर करके बोले—'अच्छा जो होगा भुगतेंगे। तुम रहो लेकिन हमें भूलना मत।' उस वक़्त हमारा दिल बदल गया। वो जो मेरे दिल में था कि मर जायें वह सब बदल गया। उन्होंने कहा—'हमको भूल मत जाना। तुम्हारी बहन है, छोटे भाई हैं। सब बहुत छोटे-छोटे हैं।' तो हमने कहा—'भरोसा कीजिये मेरे ऊपर, बिल्कुल भरोसा कीजिये, कोई बेईमानी नहीं करेंगे।' तो उन्होंने कहा—'ठीक है लेकिन हमारी कुछ शर्तें हैं इसके अन्दर।' हमने कहा 'कहिये।' बोले 'पांच शर्तें हैं हमारी, उनका पालन करोगे तो हमारा नहीं तुम्हारा ही भला होगा। तुम्हारी ही अच्छाई के लिए हैं।' हमने कहा—'कहिये, मैं आप को क़ौल देता हूं कि उस पर अमल करूंगा और उसके अमल की पूरी कोशिश करूंगा।' उनकी पहली बात तो यह थी कि तुम इज़ारबन्द के मज़बूत रहना, कमरबन्ध के। कैरेक्टर पर मज़बूत रहना। दूसरी बात ये कि तुम कोई नशा मत करना, शराब ही नहीं, कोई नशा मत करना। जूआ मत खेलना तीसरी बात थी, चौथी थी झूठ मत बोलना और पांचवीं बात थी कि किसी के माल

पर तुम निगाह मत रखना। पराया माल पराया है। तो पराया माल उनके लिए कैसा पराया था इसका एक क़िस्सा सुनाऊं आपको। एक बार का वाक़या है उनकी आंख दुख रही थी तो हम उनको डाक्टरख़ाना ले गये। वहां से पट्टी लगा दी उनकी आंख पर। हम उनकी अंगुली पकड़ कर ला रहे थे तो सड़क पर दो पैसे का धन्ना—पहले आता था तांबे का धन्ना—पड़ा हुआ था। हम रुके और हमने झट से उठाया तो बोले 'क्या बात है।' हम ने कहा—'धन्ना पड़ा हुआ है सड़क पे।' बोले 'नहीं, नहीं, यह है किसका? मत छूना। डाल दो वहीं। सड़क से पैसा नहीं उठाना चाहिए।' और नहीं उठाने दिया। कितने ईमानदार लोग थे। उनकी उन पांच शर्तों में से किसी का पालन हुआ, किसी का नहीं हुआ। पर हां, इतना मैं कहूंगा कि जहां तक मुझसे हो सका उस दिन के बाद से सारी ज़िन्दगी जब तक थे वे—१८ बरस से ५० बरस की उम्र तक—कभी उनके दिल पर ये ख्याल नहीं आने दिया कि वो अलग हैं या हमारा कोई नहीं है। मूनलाइट में नल दमयन्ती ड्रामा जब निकला था तभी उनकी मृत्यु हुई यहीं कलकत्ता में—बस वो दुआ मेरे लिये करते थे, नमाज़ पढ़ते थे। हमने फ़तह पाई। और हमने अपनी वाइफ की, हमारे भाई की, दोस्त की किसी की उनके आगे नहीं सुनी। उन्हीं की बात रखी। उन्हीं का हुकुम चलता था। और बुढ़ापे में हम उनको जो भी सुख दे सकते थे हमने दिया।"

ये बातें करते-करते ऐसा लग रहा था कि फिदा हुसैन साहब की आँखों के सामने सब कुछ फिर से घटित हो रहा हो, वालिद सामने खड़े हों, वे उनसे बातें कर रहे हों। वास्तव में उन्होंने कुछ मिनटों के लमहे में ३२ वर्षों के अंदरूनी और पारिवारिक जीवन को फिर से जीया।

यह घटना उनके जीवन की शायद सबसे बड़ी, सबसे महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि इसके बाद से ज़िंदगी का रास्ता तै हो गया। तै हो गया कि फिदा हुसैन को थियेटर करना है, फिदा हुसैन को गाना गाना है, फिदा हुसैन को अपना कैरेक्टर मज़बूत रखना है, फिदा हुसैन को ईमानदार रहना है, फिदा हुसैन को घरवालों से नाता रखना है, फिदा हुसैन को वालिद को सारी ज़िंदगी आराम और सुकून पहुँचाना है। इसके बाद पूरे ५० वर्षों तक-सन् १९६८ तक—वे थियेटर से जुड़े रहे पर इन बातों पर पक्के रहे। शराब तो दूर की बात, सिगरेट तक नहीं पी और लम्बे अरसे तक चाय से भी दूर रहे। आश्चर्य होता है यह देखकर और जानकर कि व्यावसायिक थियेटर से जुड़ा व्यक्ति कैसे इतना संयम रख सका।

तो सन् १९१८ में उनके जीवन का ढर्रा तै हो गया। पहले वे थियेटर कम्पनियों के साथ यहां वहां घूमते रहते थे। जब सुविधा होती तो अलग मकान लेकर बीबी को भी बुला लेते वरना कम्पनी के कलाकारों के साथ ही रहते। पर हां, घर से सम्बन्ध सदा रखा। छह महीने से घर का चक्कर लगा आते थे—हफ़्ता, दो

हफ्ता, महीना जब जैसी छुट्टी मिली। सन् १९६८ में जब घरवालों ने मूनलाइट थियेटर (कलकत्ता) छोड़कर घर लौट चलने को कहा तो ये चले गये। उस घटना का ज़िक्र करते हुए फिदा हुसैन साहब बोले—"थियेटर छोड़े अब १५ साल हो गये। घर वालों ने भी छुड़ा दिया और मैंने भी छोड़ दिया इसलिए कि बुढ़ापे में न मालूम क्या हाल हो। कलाकार का, तवायफ़ का और रेस के घोड़े का जब ये बूढ़े हो जाते हैं तो बुरा अंजाम होता है। मेरा तजुर्बा है ये। बड़े-बड़े ऐक्टरों को हमने देखा है कि बुढ़ापे में उनकी बहुत बुरी हालत होती है। कोई पूछने वाला नहीं। तवायफ़ का भी यही हाल है। जवानी में शहर के लोग दौड़े-दौड़े जाते हैं मुजरा सुनने के लिये। लेकिन बुढ़ापे में पूछनेवाला कोई नहीं। वो ही रेस के घोड़े का हाल। कहां बुढ़ापे में मर रहा है, जुत रहा है कोई ठिकाना नहीं। इसलिए मैंने कहा कि पब्लिक को बहुत चाहत है। इसी वक़्त अलग होना ठीक है। और ५० साल तक तो काम किया। १८ से लेकर ६७ तक पूरे ५० साल किया।"

फिदा हुसैन साहब की इन बातों ने मन को छुआ। कितनी सुलझी हुई दृष्टि थी वास्तविकता को समझने की और उसे स्वीकार करने की कैसी सहज प्रवृत्ति थी। सारा जीवन व्यावसायिक पारसी थियेटर में काम करने के बावजूद वे दिखावा, भ्रम ऐशो आराम सबसे दूर थे और न अपने बारे में ग़लतफ़हमी में थे न दूसरों के। उनके बारे में प्रारम्भिक व्यक्तिगत जानकारी के बाद हम उत्सुक थे कि वे अपने अनुभवों के बारे में हमें बतायें, पारसी थियेटर कम्पनियों के रंग-रवैये के बारे में बतायें, उनकी विशेषताओं और कमियों को रेखांकित करें। हमने उन्हें छेड़ दिया—'हमलोगों ने तो पारसी थियेटर देखा नहीं है पर इतना मालूम है कि उसमें अतिरंजित अभिनय, शेरो-शायरी, ट्रिक-सीन, तेज़ आवाज़ में जोश-ओ-ख़रोश के साथ बोले गये संवाद रहते थे। अवश्य ही ये बातें गुण के रूप में नहीं स्वीकार की जातीं वरन् हमारी पीढ़ी तो इनसे कोसों दूर रहने की कोशिश करती है। आपका क्या ख़्याल है?' फिदा हुसैन साहब कुछ पल के लिए रुके जैसे मन में बातों को समेट रहे हों फिर जो बोले उसका सार यह था कि पारसी थियेटर कम्पनियों की स्थापना हुई विलायत से आनेवाली थियेटर कम्पनियों के नाटक देखकर। ये कम्पनियां इंग्लैंड से आती थीं, बम्बई में उतरती थीं और नाटक करती थीं। पारसी लोग इन नाटकों को देखने जाया करते थे और उनसे प्रेरित होकर उन्होंने अपनी थियेटर कम्पनियां बनायीं और उनमें शेक्सपीयर के नाटकों के तर्ज़ पर ऐक्टिंग करवाते थे। अंग्रेजी थियेटर के उस ज़माने के कलाकार ज़ोर से बोलते थे, उनमें बड़ा पावर होता था। उसी अंदाज़ की नक़ल करने के कारण पारसी थियेटर कम्पनियों के नाटक में भी ज़ोर से बोलने की परम्परा चल पड़ी। एक और बड़ी महत्वपूर्ण बात उन्होंने बतायी कि नाटक करवानेवाले पारसी मालिक हिन्दुस्तान की सभ्यता और तहज़ीब से वाक़िफ़ न थे, उन पर अंग्रेजी प्रभाव

था अतः उन्होंने कभी हिन्दुस्तान के रोज़मर्रे के ढर्रे को अपने थियेटर में जगह नहीं दी। साथ में काम करनेवाले ज़्यादातर ऐक्टर भी बिना पढ़े-लिखे थे इसलिए उन्होंने भी जितना बतलाया गया, उतना किया, अपनी ओर से कुछ दिया नहीं। उस ज़माने के डाइरेक्टरों में जहांगीर जी खम्भाता और खुरशेदजी बालीवाला का बड़ा नाम था। जहांगीर जी किस ऊँचे दर्जे के आर्टिस्ट थे इसका ज़िक्र करते हुए उन्होंने एक घटना सुनाई—"उन दिनों इंग्लैण्ड से दल आते थे, बम्बई में उतरते थे। जहांगीर जी खम्भाता और खुरशेद जी बालीवाला जैसे निर्देशक उन नाटकों को देखते थे और अपने ऐक्टरों को सिखाते थे। वहां डाइरेक्शन देते थे। जहांगीर जी के लिए मशहूर है कि एक बार वे पारसी जुबान में पार्ट कर रहे थे। सामने बूढ़े-बूढ़े पारसी लोग बैठे थे। नाटक में एक औरत पर अत्याचार करने का सीन था। वह सीन इतना पावर-फुल हुआ कि सामने बैठे एक पारसी भाई ने अपना जूता उतार कर स्टेज पर फेंक दिया और उन्हें मारा। फुलबूट था। उन्होंने जूता सर आंखों से लगाते हुए कहा—आज मैं अपने काम में कामयाब हुआ। ऐसे बड़े ऐक्टर जहांगीर जी थे। खुरशेद जी बाद में अलग हो गये। यह कम्पनी पहले बालीवाला कम्पनी थी, बाद में इंग्लैन्ड से लौटने पर विक्टोरिया कम्पनी हो गयी। वहां मलका विक्टोरिया की तख्तपोशी के समय नाटक करने गयी थी।"

उनका अंतिम वाक्य सुनकर हम चौंक उठे। पारसी कम्पनी इंगलैण्ड क्या करने गयी थी? वहां, उस जमाने में कौन रहा होगा उर्दू नाटक देखनेवाला? या फिर अंग्रेजी में किया? बुलाया किसने था, सरकार ने? असल में गये ये लोग खुद ही थे, उर्दू में नाटक किया। वहां जो थोड़े हिंदुस्तानी थे, उन्होंने देखा, कुछ अंग्रजों ने देखा पर नाटक किसी को अच्छा नहीं लगा, कंम्पनी घर से पैसा फूंककर तमाशा दिखा आयी।

एक और प्रश्न मन में उठ रहा था। ठीक है, मान लिया पारसी कंपनियों ने नाटक शेक्सपीयर की नक़ल करके किया। तो फिर संगीत कहां से आया? शेक्सपीयर के नाटकों में तो है नहीं या है भी तो नहीं के समान। अब इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर देने के लिए फिदा हुसैन साहब प्रस्तुत हुए। बोले—"संगीत का तत्व भारतीय है। नाटक हिन्दुस्तान के अन्दर शुरू से ही संगीत प्रधान रहे। जहां तक मेरी मालूमात है नाटक चाहे किसी भी भाषा में हुआ हो वह संगीत प्रधान रहता था। आख़िर में आकर गानों को बहुत कम कर दिया गया या बिल्कुल नहीं भी कर दिया गया मगर वैसे संगीतप्रधान ही रहा। मैं इसकी एक मिसाल देता हूं। पृथ्वीराज के पृथ्वी थियेटर्स के अन्दर संगीत को ख़ास अहमियत नहीं दी गई। लेकिन सहगल यदि कम्पनी बनाता तो उसके नाटक संगीत प्रधान होते। जहां तक संगीत का सवाल है, पहले शुरू में सन् १८५४ के सरबाग में जो इन्दर सभा हुआ था, उसमें जो म्यूजि-

शीयंन थें सब ख़ाँ साहब और संगीत के माहिर थे। उन्होंने जो राग हैं उसी पर बोल बनाये, बोल के ऊपर संगीत नहीं बैठाया। उस वक़्त वे जो तर्ज़, राग फिट कर देते थे कि फलां परी आयेगी तो यह राग गायेगी तो उसके ऊपर शायर को बोल लिखने पड़े हैं। ऐसा भी नाटकों में कई जगह हुआ है कि कभी बोल के ऊपर तर्ज़ बनी है, तो कभी तर्ज़ पर बोल बनाने पड़े। लेकिन हां पहले के ये नाटक 'अलाउद्दीन', 'गुलबकावली', 'फ़साने आज़ाद', 'लैला मजनूं' इनमें बहुत से गाने थे और ८० प्रतिशत गानों की तर्ज़ पहले बनीं, उनके ऊपर बोल बाद में लिखे गये। ऐसा समझिये कि वहां संगीत प्रधान था। शब्द संगीत को फॉलो करने वाले थे। फिर आगाहश्र का जब नंबर आया और उनका क्या नाम है मुंशी बेताब का और हरिकृष्ण जौहर का तो उन लोगों के बोल लिखे गये। फिर उस पर तर्ज़ बनाई गईं। इनमें और तर्ज़ पर बोल बैठाकर लिखे गानों में बहुत फ़र्क़ बैठता है। अच्छे गाने जो पब्लिक में पास हुए हैं, वो वही हुए हैं जिनके बोल लिखे गये पहले फिर उन पर तर्ज़ बनी। और चूंकि संगीत प्रधान नाटक होते थे इसलिए ऐसे कलाकारों को ढूंढ़ते थे जो गा सकें। राजा भी गाता था। 'इंदर सभा' में कम से कम १६ गाने तो राजा इंदर के हैं। नीचे नहीं उतरता, तख़्त पर बैठा-बैठा ही वो गा रहा है। 'गुलफ़ाम' और 'सब्ज़-परी' दोनों के मिल के ५० गाने हैं। कल्पित कहानी होती थी लेकिन ऐसी कि जनता शौक़ से देखती थी। देखती ही नहीं, टूटती थी यानी चोरियां करके लोग देखा करते थे। मैं आपके सामने बैठा हूं। उस समय नाटक को देखने का कोई वैसा साधन नहीं था। एक तो घर ग़रीब था, पैसा कहाँ ? और उस वक़्त भी टिकट चार आने का था कम से कम। फिल्म तो जब चली ५ पैसे के टिकट थे शुरू में लेकिन थियेटर जब से चला तब से चार आने कम से कम तो पैसे नहीं थे पास में। एक दिन क्या किया··· वो हुक्का जो पीते हैं, उसके नीचे का हुक्का तांबे का था जो घर में नज़र में था मेरी। पैसा कहां से आये ? तो तांबे का हुक्का लेकर के एक दुकान पर पहुंचा। मुरादाबाद में बहुत सारी दुकानें हैं जो चूनस लेती हैं, पुराने बर्तन लेती हैं। वहां जाकर पांच आने में उसे बेचा। कम से कम एक रुपया चार आने का था वो। ताम्बे का था बहुत वज़नी। पांच आने में बेचकर चार आने का टिकट लिया, दो पैसे की मूंगफली और बैठ कर ड्रामा देखा।"

"इन सबका नतीजा यह हुआ कि बाल-बच्चोंवाले लोग नाटक कंपनी के शहर में आते ही परेशान हो उठते थे। एक बार तो बात बहुत बढ़ गयी। मानिकचंद की कंपनी मुरादाबाद आयी। बड़े अच्छे नाटक कर रही थी, पब्लिक पागल हो उठी। लोगों ने इस डर से कि घर के लड़के बरबाद हो जायेंगे बाक़ायदा मीटिंग की, सरकार से कहा नाटक कंपनी को वापिस भिजवा दो पर ऐसा कोई क़ानून तो था नहीं सो कुछ हुआ नहीं। पर मैं लोगों के मन के ख़ौफ़ की बात आपको बतला रहा

हूं। और लोग पागल क्यों न होते। उनकी पसंद का नाटक—धार्मिक, ऐतिहासिक या फिर रोमांटिक, नाच, गाना और करिश्मा। करिश्मा पारसी थियेटर की ख़ास चीज़ थी और पब्लिक को खींचने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाता था। आप करिश्मा दिखाकर बड़ों-बड़ों को बस में कर सकते हैं। पारसी थियेटर में करिश्मा हमारी अपनी चीज है, इसका शेक्सपीयर के थियेटर से कोई वास्ता नहीं। सब से पहला करिश्मा दिखाने वाले पेन्टर थे—दिनशा जी ईरानी (पारसी)। कलकत्ता में ही थे, बहुत नामी थे। उनको मैजिक के कामों की किताबें पढ़ने का बहुत शौक़ था। मैजिक की किताबें पढ़ते थे। उनके कई शागिर्द भी थे जो जादूगरी का तमाशा दिखाने के लिए शो करते थे। मीनू थे पारसी और एक कल्लन थे। वे दोनों शो करते थे, उन्हीं के सिखाये हुए थे। मैजिक की किताबों के अन्दर तमाम ट्रिकों का वर्णन होता था। जादूवाले दिखाते हैं न कि ज़मीन पर हाथ यों किया और लड़का बेहोश हो गया। फिर लड़के को लिटा दिया ज़मीन पर और कहा—'उठ' तो वह ज़मीन से उठने लगा। यह सब पब्लिक देख रही है आंखों के सामने और उसे लगता है कि अरे, यह तो जादू है। लेकिन वास्तव में जादू जैसा कुछ नहीं होता था, होता था ख़ाली करिश्मा। एक कोने में ऊपर पूरा तख्ता लोहे का जड़ा होता था जिसके ऊपर लड़के को लिटाते थे। उसका पतला सा गार्डर नीचे ट्रैप में रहता था। जैसे आप मोटर का टायर लगाने के लिए जैक लगाते हैं, बस वही चीज़ ज़रा लंबी। नीचे एक आदमी घुमाता था और वह उठता चला जाता था। लड़के को बेहोश करने के बाद उसे चादर से ढँक देते थे। चादर चारों ओर लटकी रहती थी। जहां ऊपर कहा—'उठो' वहां नीचे से उस आदमी ने जैक घुमाना शुरू कर दिया। पूरी मशीन मज़बूत होती थी, लचक-वचक नहीं होती थी। लड़का लोहे की चद्दर पर ऊपर उठता जाता था और लोग देखते रह जाते थे। यह नज़रबन्दी नहीं होती थी, ख़ालिस करिश्मा होता था। मशीन की मदद और हाथ की सफ़ाई से इसे दिखाया जाता था।

"आपको करिश्मे का एक और सीन बतलाऊँ। गणेश-जन्म नाटक में यह सीन दिखलाया जाता था। शीशे में दिखलाया जाता था कि पार्वती जी नहा रही हैं। नहाकर वे मैल का पिंड बनाकर बेदी पर रख देती हैं और उसी से थोड़ी देर बाद गणेश का जन्म हो जाता था। तो इसमें शीशे और लाइट का करिश्मा रहता था। दो शीशे लगाते थे, एक इधर और एक उधर। एक बेदी पर मैल रहता था, दूसरे पर लड़का। शीशे के भीतर लाइट होती थी। लाइट धीरे-धीरे बढ़ती थी। वह ऐसे फिट होती थी कि टेढ़ी होकर पिंड पर से होती हुई लड़के पर पड़ती थी तो ऐसा शेड पड़ता था कि लगता था कि पिंड से ही गणेश का जन्म हो रहा है। इसी नाटक में एक और सीन था गणेश जी का सर काटने का। गणेश जी का सर काटना है

तो इसके लिए क्या करते थे कि...यों औसत आदमी पांच फुट का होता है लेकिन लड़का ऐसा ढूंढ़ा जाता था जो साढ़े तीन फुट से लम्बा न हो। उसके ऊपर एक लोहे की पत्ती की बॉडी फिट कर दी जाती थी बनाकर। हाथ निकालने के लिए दोनों ओर बॉडी के किनारे उसको फिट कर देते थे। नकली सर सहित पूरा आदमी बनाकर पेंट करवा लेते थे और उसको उस लड़के पर फिट कर देते थे। उसके अंदर लाल रंग के चिथड़े खूब रंग लगाकर भर दिये जाते थे। अब वो लड़का वहां विंग में खड़ा रहता था उधर। इधर शंकर गणेश से कहते हैं--'हम जायेंगे।' तो वो सचमुच का गणेश जो था वह कहता है—'नहीं मेरी माता नहा रही हैं, हम नहीं जाने देंगे।' ऐसे ही दो चार बार कहते सुनते हैं तो गुस्से में शंकर जी गणेश को धक्का देते हैं और इतने ज़ोर से धक्का देते हैं कि धक्के के साथ गणेश अन्दर चला जाता है। वो फिर आता है निकलकर कि 'नहीं, मैं नहीं मानूंगा।' ऐसे दो तीन फेरे करता है। तीसरे फेरे में जा करके वो नहीं आता, अन्दर जो बच्चा खड़ा है वो आता है। लोगों को फ़क़ पता नहीं चलता क्योंकि वही ड्रेस है उसका, वही मुकुट है। तो तीसरे मर्तबा वो नहीं आया और शंकर ने त्रिशूल मारा तो गर्दन कट कर नीचे गिरी और तड़पता हुआ वह बालक नीचे गिरा। सर के अन्दर जो चिथड़े भरे थे वो दीख रहे थे। लगा सचमुच में खून निकल गया सब। उस समय पब्लिक इतनी बारीकी में तो जाती नहीं थी। आजकल तो सचमुच सर काट दीजिये तो भी लोग अटकल लगाते रहेंगे कि यों नहीं यों हुआ होगा। सच, उस समय इतनी समझ कहां थी। मैं अर्ज़ करूँ आपसे कि बिहार में इतने, इतने सीधे लोग थे कि 'इन्दर सभा' नाटक में राजा इन्दर दरबार में आते हैं—तो उनकी आमद गाई जाती है। एक गाना 'सभा में इन्दर की आमद है' बनाया था, राग में सेट था, उसे सब दरबारी गाते हैं। जब आधा गाना हो जाता है तब राजा इन्दर आते हैं और तख़्त पर बैठ जाते हैं। उनके तख़्त पर बैठने के बाद आरती उतारी गयी। ड्रामे में नहीं थी वो चीज़, वो डायरेक्टर की कम्पनी की चालाकी थी। उन्होंने पब्लिक से फ़ायदा उठाया। नाटक में इन्दर की आरती उतारी। लोग यह नहीं समझ रहे थे कि यह परियों का राजा है, स्वर्ग का राजा इन्दर अलग है। इन्द्र की अप्सराओं की तरह राजा इन्दर की भी परियां थीं। सो सब ने इन्हें इन्द्र समझा, उनकी श्रद्धा वही है। आरती उतारने के बाद आदमी पब्लिक में आरती लेकर जाता है तो टिकट की आमदनी ७०० रु० की और आरती में ९०० रु० तक और आ गये। जिसके पाकेट में जो है निकाल कर आरती में डाल रहा है। अरे, अभी तक भी पुल पार करते हैं तो लोग पैसे निकाल कर फेंकते ही हैं तो उस वक़्त का तो हाल फरक था। कृष्ण का पार्ट है, औरतें आई हैं खेल देखने के लिये तो मिठाइयां लेकर आई हैं। मिठाई पैरों में रखकर चरण छूती हैं। बस, मज़ा आ जाता था। पूरी कम्पनी के लोग ख़ूब मिठाई खाते थे। इतनी-इतनी मिठाई चढ़ती थी उस ज़माने में। वो भी एक ज़माना था।

"हां, तो बात करिश्मे की हो रही थी। एक और क़िस्सा सुनाऊं। झांसी की रानी में स्टेज पर घोड़ा लाते थे। कई नाटकों में रथ वग़ैरह भी लाते थे। तो झांसी की रानी में घोड़े के लिए क्या करते थे कि लकड़ी पर पूरे कद के घोड़े का पेन्टिंग करके उसको एक तख्ते पर फिट कर देते थे। तख्ते के नीचे छोटे पहिये होते थे और उसके ऊपर एंगिल वग़ैरह लगाकर घोड़े को फिट कर दिया जाता था। आगे ऊंचा पहाड़ जैसा होता था, क़रीब दस फुट ऊंचा। जब सीन आता तो भीतर से रस्सी से उसको खींच लेते और लगता कि घोड़ा चल रहा है। एक सीन की बात बताऊं। एक जगह शिवाजी एक लड़के को ज़ोर से डांटते हैं, वह एक दुल्हन के साथ ज़्यादती कर रहा था। तो शिवाजी उसे डांटते हैं। वह लड़का घोड़े पर बैठा हुआ है। घोड़ा तो पतला इतना सा ही है लेकिन उसके साथ एक टूल फिट किया हुआ है ताकि वह बैठ सके आराम से। लगाम उसके हाथ में है और जब उस पर डांट पड़ी तो भीतर से रस्सी खींची गयी ज़ोर से और वो स्टेज पर आ गिरा धड़ाम से।

"अब अभिमन्यु नाटक का क़िस्सा सुनिये। उसमें रथ पर कृष्ण भगवान पांचजन्य शंख लेकर के आते हैं। रथ के पहिये असली बनते थे लेकिन घोड़े वही नक़ली, तख़्ते पर फिट होते थे। दो घोड़े होते थे और उन्हें खींचा जाता था इस तरह से गोया वे चलते हों। मान लीजिये नाव का सीन है। अब तो टेकनिक बहुत बदल गयी है पर उस ज़माने में तो ऐसे ही दिखलाते थे। दरिया का सीन दिखाना है। एक शहर का सीन है उसमें रात को गोया झरना झर रहा है। तो उसके लिए क्या करते थे कि मकान में लगनेवाली चिक को बड़ी बनवा करके खींचकर लगाते थे। उसके अन्दर लाइट फिट कर दी जाती थी। वो काफी बड़ी होती थी। ऊपर नीचे दो रूल होते थे उस पर आहिस्ता-आहिस्ता चिक चलती थी। लाइट होती थी तो ऐसा मालूम होता था कि पानी गिर रहा है। कहने का मतलब यह कि पूरा इन्तज़ाम होता था सब बातों का और सब काम एकदम ठीक टाइम पर होना चाहिये नहीं तो खत्म। इस सबके लिए हर तरह का इन्तज़ाम होता था और सब काम ठीक समय पर हो इसके लिये ख़ूब कड़ाई बरती जाती थी।"

फिदा हुसैन साहब का वर्णन इतना सजीव था कि नाटक का दृश्य पूरा का पूरा आंखों के सामने तैर गया और लगा ये इसी तरह और दृश्यों का वर्णन करते चलें तो कितना अच्छा हो। साथ ही याद आयी आधुनिक प्रस्तुतियों में 'सेतु' और 'अंगार' की। दोनों में इसी प्रकार भ्रम पैदा किया गया था। और भ्रम पैदा करनेवाले तत्व मुख्यतः लाइट और ध्वनि थे। 'सेतु' में स्टेज के ऊपर पूरी ट्रेन धड़धड़ाती हुई आती है, दर्शकों की ओर सामने और फिर खट-खट-खटांग लाइन बदल कर चली जाती है। सचमुच ऐसा लगता था कि ट्रेन अपने ऊपर से जायेगी। 'अंगार' में कोयला की खान में धीरे-धीरे पानी भरने का अद्भुत दृश्य प्रस्तुत किया था प्रकाश और संगीत

ने। प्रकाश था तापस सेन का और संगीत था रविशंकर का। सेतु में भी प्रकाश योजना तापस सेन की थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि दर्शकों का एक बड़ा दल इन दृश्यों को देखने लिए ही जाता था, देखकर मुग्ध होता था। वही पब्लिक को खींचनेवाला नुस्खा-आज भी लोग वक़्त-ज़रूरत इस्तेमाल करते हैं। विषय-वस्तु बदल गयी है, रूप बदल गया है। पर मूल दृष्टि तो वही है न !!

अगले दिन हम लोग बैठे तो बात शुरू की पारसी कम्पनियों के नियम-क़ानून की पाबन्दी से, डिसिप्लिन से। सिद्धांततः इन कम्पनियों के मालिक डिसिप्लिन में विश्वास करते थे क्योंकि वे जानते थे कि डिसिप्लिन न रखा गया तो इतने-इतने लोगों को एक साथ लेकर काम करना कठिन ही नहीं असंभव होगा। फिदा हुसैन साहब ने बतलाया कि मालिक लोग उसूल के बड़े पक्के होते थे। जो नियम बना दिया उस पर अमल करना ज़रूरी होता था। उन्होंने सबसे पहले एल्फ्रेड कंपनी में काम शुरू किया। बड़ी कंपनी थी। उसके अपने सामने नियम थे। बड़ी सख्ती थी। पान कोई नहीं खा सकता था। बीड़ी-सिगरेट पीना मना न था, लेकिन न ड्रेस रूम में कोई पी सकता था न रिहर्सल के दौरान। रिहर्सल में १० मिनट का इन्टरवल इसलिये दिया जाता था कि लोग बाहर जाकर बीड़ी-सिगरेट पी लें। और रिहर्सल में बैठने का तरीक़ा यह था कि दो घन्टा, ढाई घन्टा पूरे—दस मिनट छोड़ करके—बैठे देख रहे हैं। जो ट्रेनिंग चल रही है स्टेज के ऊपर या कमरे में उसको देखना ही होगा। कोई बात नहीं कर सकता था आपस में, इधर-उधर नहीं देख सकता था। टांग पर टांग चढ़ा कर नहीं बैठ सकता था। क़ायदे से बैठना पड़ता था। छुट्टी का दिन है तो कलाकार घूमने जा सकते थे पर केवल बड़े कलाकार, लड़के नहीं। लड़कों को हफ़्ते में एक या दो बार जाने की इजाज़त थी। दो पठान दरबान थे और दो गार्जियन थे लड़कों के। वे रखे गये थे। चार आदमी के अन्डर में २०-२५ लड़के एक सा सूट पहने हुए और लाइन बनाकर के जाते थे। कहीं बगीचे में देखने-घूमने के लिए एक घन्टे के लिये। और बड़े कलाकार जो हैं वे अकेले जाते थे लेकिन उनको भी निर्देशक के सामने जाना पड़ता था बाहर जाने के लिए। वे देखते कि टोपी ठीक पहनी है कि नहीं, बटन कोट का खुला हुआ तो नहीं है आदि आदि। डिसिप्लिन की बात करते-करते वे बोले—"एक बार का वाक़या है, कम्पनी लाहौर गयी। अब्दुल रहमान काबली उस ज़माने में हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा ऐक्टर था। बहुत नाम था उसका हिन्दुस्तान में। शेर की तरह आवाज़ थी, ड्रामा बोलने में तो उनका मुक़ाबला नहीं था कोई का। बड़ी शान से बोलते थे—

"ये सजा दी है मुझे मेरे अदम और पाप ने
भस्म कर डाला मुझे ब्राह्मण के शाप ने।"

"दशरथ का ड्रामा था। अभी खेल शुरू होने में तीन दिन की देर थी, सामान जुट ही रहा था, सीनरी वग़ैरह फिट हो रही थी। सब पैक होकर आता था। खोल करके लग रहा था। एक दिन वे अपना पैंटसूट पहन करके, टेढ़ी टोपी लगा करके मालिक के सामने पहुंचे और बोले 'सैब जी···।' कहना नहीं पड़ता था कहां जा रहे हैं। बस, इतना इशारा ही काफी था कि 'सैब जी···सेठ जी।' साहब जी का चेहरा ऐसा था कि क्या कहूं ? इतनी बड़ी-बड़ी मूछें कानों तक की, उनके इतने बड़े-बड़े बाल थे और इतना रोबीला आदमी था कि लड़के को अगर देख लें तो लड़के का पेशाब निकल जाय डर के मारे। वही डायरेक्टर था। अब्दुल रहमान काबली की टोपी ज़रा ज़्यादा टेढ़ी थी। साहब बोले—'ज़रा मिस्टर···' बस इतना ही इशारा। 'अच्छा बाबा'। उन्होंने टोपी सीधी कर ली, चले गये। दूसरे रोज़ शाम के टाइम फिर आये और बोले 'साहब जी।' 'केम ··केम···?' 'बाहर जा रहा हूं।' सुनकर साहब जी सख्ती से बोले—'नहीं। तुम ड्रामा से पहले अपने को पब्लिक को दिखा दोगे तो मेरे यहां आयेगा कौन और टिकट कौन खरीदेगा पांच रुपये का ? जाओ, जाओ, घर में बैठो।' कोई बोल ही नहीं सकता था उनके सामने। बड़े से बड़ा ऐक्टर हो तो भी नहीं।

"वैसे यह तो बहुत मामूली वाक़या था। निसार वाला क़िस्सा सुनाऊँ आपको। एक बार स्टेशन के ऊपर झगड़ा हो गया। अभिमन्यु ड्रामे में उत्तरा का पार्ट था निसार का। अब्दुल रहमान बहुत मोटे ताज़े थे। बहुत डींग मारते थे। एलिजर, जिनका आलमआरा में मेन कैरेक्टर था, वे यहूदी थे और अर्जुन बनते थे। गिना-चुना स्टाफ था। मास्टर निसार का गाने में बड़ा नाम था, बाजे के सुर ख़त्म हो जाते थे पर उनकी आवाज़ नहीं ख़त्म होती थी, और ऊपर जाती थी और वे तान लेकर बाजे के सुर के आगे बढ़ जाते थे। पब्लिक चिल्ला पड़ती थी। ऐसे थे मास्टर निसार। तो कम्पनी ड्रामा लेकर अमृतसर जा रही थी देहली से, अभिमन्यु नया ड्रामा निकला था। हर साल कम्पनी जाती थी, दो-दो महीना ड्रामा चलता था। स्पेशल ट्रेन चलती थी कम्पनी की। अपना सामान थियेटर बनाने का, फर्निचर वग़ैरह सब लेकर सत्रह वैगन सामान चलता था। दो जेनरेटर इलेक्ट्रिक के भी साथ में रहते थे, शहर में लाइट नहीं होती थी उन दिनों। निसार के बाप भी साथ जाते थे, गार्जियन थे उनके। वो बहुत खूब-सूरत थे। आवाज़ भी थी और शोहरत भी थी। मगर उनके बाप शराबी थे, कोकीन भी खाते थे और शराब भी पीते थे। उनकी कमाई सब वो शराब में ही ख़त्म कर देते थे। उनको ऊपर की सीट मिली थी सेकेन्ड क्लास में। मास्टर निसार को नीचे की सीट दी तो उन्होंने कहा कि मेरे बाप को भी नीचे की सीट दीजिये। मैनेजर ने सोहराब जी से जाकर कहा। मालिक का कोई दख़ल नहीं होता था।

किसी को मालिक की जरूरत नहीं पड़ती थी। सब सोहराबजी को बोलिये। तो सोहराबजी ने कहा : 'हम क़ानून नहीं तोड़ सकते, उनको जाकर समझाओ।' उनसे कहा तो उन्होंने कहा 'नहीं, हमें तो नीचे की सीट चाहिये।' और वो ख़ुद ही आ गये सोहराबजी सेठ के पास और कहा कि 'हमारे बाप तो ऊपर नहीं सो सकते।' तो सोहराबजी बोले 'देखो निसार, तुम कह रहे हो पर दूसरे भी कई लड़के हैं, उनके भी गार्जियन हैं। उनके लिये तो हमारा क़ानून टूटेगा। क़ानून हमारा नहीं टूटना चाहिये। तुम ऐसा करो कि उन्हें अपनी सीट दे दो और ख़ुद ऊपर चले जाओ।' बोला 'नहीं साहब।' जब निसार ने नहीं कहा तो उनका रुख़ बदल गया। अब तक समझा रहे थे। अब सख्ती से बोले :तो फिर क्या चाहते हो ? 'इस पर निसार ने जवाब दिया कि 'मैं इस तरह तो नहीं जा सकूंगा।' सोहराबजी ने एक नज़र देखा और कहा 'ठीक है, मेहता जी को बुलाओ।' मोहनलाल मेहता कम्पनी के खजांची थे। उनको बुलाया और कहा 'मेहताजी आप इनका हिसाब दे दीजिये।' 'साहबजी, सलाम' कहकर निसार बाप को लेकर चले गये, ग़ुस्से में थे।

"कम्पनी परेशान थी कि जिस ड्रामे को लेकर जा रहे हैं उसका अमृतसर में क्या होगा ? निसार के नाम पर टिकट बिकता था, पब्लिक आती थी। अमृतसर में जाकर खेल की तारीख को ८-९ दिन पीछे कर दिया। एक रघुबीर साहूकार थे जिनकी अपनी कम्पनी थी और उन्होंने बहुत दिनों तक मराठी कम्पनी चलाई थी। हिन्दुस्तान में लेडीज़ पार्ट में, चन्चल पार्ट करने में उनका कोई मुक़ाबला नहीं था। कोई औरत इतनी ख़ूबसूरत भी नहीं थी। वो शान्ताराम के साथी थे। शान्ताराम भी मराठी में जनाना पार्ट करते थे। तो उनको ट्रेनिंग दिया सोहराबजी ने। आठ दिन के अन्दर इतना अच्छा ट्रेन किया कि पब्लिक ने पूछा ही नहीं कि निसार भी कोई कम्पनी में था या नहीं था। ज़रा भी नहीं। और इतना रोब था उनका कि उनके सामने कोई आदमी जा नहीं सकता था पर जब कोई ऐक्टर ज़्यादा बीमार हो जाता था तो उसका मलमूत्र तक सोहबराबजी खुद अपने हाथ से उठाया करते थे। अगर कोई कलाकार बीमार हो गया तो फिर उनकी जान में जान नहीं रहती थी, वो खुद उसकी खिदमत करते थे। वैसे बड़ा ज़ालिम था, कोई माफ़ी नहीं किसी मामले में। जो क़ानून है वह है। कहता था 'क़ानून जायेगा तो कम्पनी टूट जायेगी।' कम्पनी का क़ानून तनख़्वाह का था महीने की सोलह तारीख़ को। कम्पनी बॉम्बे से सीधी अमृतसर आ रही है स्पेशल ट्रेन में। रास्ते में १६ तारीख़ पड़ती है तो सोहराबजी ने मालिक से कहा कि 'आप रुपये का बन्दोबस्त लेकर चलिये।' मालिक बोले '१५ को तनख़्वाह दे देते हैं।' तो वो नहीं, तनख़्वाह तो सोलह को ही दी जायेगी, रुपया लेकर चलिये। चार घन्टा ट्रेन लेट···उसको गोया रोका स्टेशन पर। सब स्टेशन मास्टर वग़ैरह के साथ कम्पनी की बहुत दोस्ती थी। सब बड़े-बड़े शहरों में

बड़े-बड़े ऑफिसर, डी० एम०, कमिश्नर दोस्त थे सब। चार घन्टा लेट कर दी स्पेशल, वहीं रोक ली तनख्वाह बाँटने के लिये। कम्पनी बॉम्बे में जल गयी। आग लग गयी, सब ख़त्म हो गया। दूसरी कम्पनी बनेगी तो ५ महीने तक रिहर्सल। तैयारी हुई और सामान बना। पर हर महीने तनख्वाह १६ ता० को ही बँटी। कोई कलाकार गया नहीं वहां से। एग्रीमेन्ट भी उनका तीन साल का होता था। बड़ा सख्त था। बॉम्बे हाई कोर्ट से किया जाता था। सर फिरोज़ शाह सेठ उनके लीगल एडवाइज़र थे। सर फिरोज़ शाह सेठ पारसी थे। उन्होंने हाईकोर्ट से पास कराके तीन साल का एग्रीमेन्ट दिया था। तीन साल बड़े से बड़ा कुछ भी क़ानून हो जाये, कोई उनके ऐक्टर को रख नहीं सकता था। मगर मैडन ने धोखा दिया। उनके ८ आदमी थे कम्पनी में...देखा कि कम्पीटीशन में तो कम्पनी बहुत ऊँची जा रही है। कम्पनी में औरतें न होने पर भी···क्योंकि यह कम्पनी सनातनधर्मी पब्लिक को बहुत प्यारी थी। मैडन के दिल में ख़ार आया। उन्होंने ८ ऐक्टरों को भगाया वहां से जो कम्पनी की जान थे। यह वक़्त की बात है कि ८ आदमी निकल जाने के बाद कंपनी टूट जानी चाहिए थी क्योंकि मेन कैरेक्टर चले गये थे पर कम्पनी नहीं टूटी, कम्पनी जैसी थी वैसी ही रही। और जो ८ ऐक्टर चले गये थे वो नापैद हो गये। वो किसी काम के नहीं रहे। मतलब वहां भी कुछ नहीं रहे, उसके बाद उनकी ज़िन्दगी भी कुछ नहीं रही। जो उनका नाम था वो था। ऐसा मेरे सामने का वाक़या है।"

हम फिदा हुसैन साहब की बातें सुन रहे थे पर मन कहीं और भी दौड़ रहा था। ठीक है, आर्टिस्ट कम्पनी के मुलाज़िम होते थे, जो नियम-क़ानून बना दो उन्हें मानना ही पड़ेगा। पर क्या एक आर्टिस्ट की हैसियत से नियम-क़ानून इतना जकड़ा होने से घुटन नहीं महसूस होती रही होगी? हमारे मन की दुविधा चेहरे पर उभरी तो तुरन्त फिदा हुसैन ने उसे पकड़ लिया और बतलाने लगे कि कड़ाई थी तो ऐश भी बहुत था, बड़ी सुविधाएँ होती थीं। तनख्वाह हमेशा टाइम पर मिलती थी। दूसरी कम्पनियों में गड़बड़ रहती थी। फिर खाने का इन्तज़ाम, रहने का इन्तज़ाम, सफ़र का इन्तज़ाम सब इतना अच्छा रहता था कि किसी को शिकायत नहीं होती थी। फर्स्ट और सेकेन्ड क्लास की एक-एक सीट सफ़र में मिलती थी। चाहे दस मिनट का ही सफ़र हो तब भी स्पेशल ट्रेन में किया जाता था। मेरठ से मुजफ्फरपुर नुमाइश में गये। बहुत हुआ तो आधे घंटे का रास्ता था, पास ही था बिल्कुल, लेकिन स्पेशल ट्रेन में सफर किया। जहाँ तक सख्ती का सवाल है हिन्दुस्तान के सब ऐक्टरों को मालूम था कि सोहराबजी के अन्डर काम करना आसान नहीं है। तो जो लोग डिसिप्लिन न माननेवाले थे वे वहां नौकरी के लिए आए ही नहीं। लेकिन जो काम सीखने का शौक़ रखते थे आये। बड़े-बड़े ऐक्टर हिन्दुस्तान के सब वहीं के सीखे हुए थे।

आगा हश्र काश्मीरी जैसे नाट्यकार को बनाने का श्रेय भी इसी कम्पनी को है। अचानक वे जोश में आ गये और बोले—"आपको पैन्टर हुसैन बख्श का क़िस्सा सुनाऊँ। सन् ११ में देहली दरबार में दुनिया भर के तमाम ऐक्टर लोग आये थे। एक्जीविशन के अन्दर हाथ की बनायी हुई चीज़ें आई थीं। तो मालिकों ने कहा हुसैनबख्श पेंटर से कि 'उस्ताद आप भी अपनी कोई चीज़ बनाकर भेजिये। हमारी कम्पनी का भी नाम होगा। तमाम दुनिया भर के आर्ट आए हुए हैं।' वे एकदम अनपढ़ आदमी थे। मगर ऐसा था कि दो तीन प्याले रंग फेंक करके ब्रश यूं मारते थे कि पर्दा टंगता था तो मालूम होता था कि जंगल का वाक़ई सीन है। इतने माहिर थे। कई पेंटर उन्हीं के शागिर्द थे बंगाल में, बहुत अच्छे पेन्टर थे। तो बोले...'अच्छा हम भी कोशिश करेंगे।' उन्होंने काले बीजवाले लाल तरबूज़ की एक फांक कार्डबोर्ड काट कर बनायी और एक पीतल का टोंटीवाला लोटा बनाया और पेंटिंग करने के बाद उसको सुखाने के लिए रखा। दो मिनट के बाद कौआ चोंच मारने लगा तरबूज़ के ऊपर। और फर्स्ट प्राइज़ लेकर दोनों चीज़ें आईं। आजकल आप फलवालों की दूकान पर अंगूर वग़ैरह जो देखते हैं वो पहले-पहल हुसैन बख्श ने ही बनाया था। फलों की दूकान पर अक्सर जो फोटो दिखते हैं जिनमें अंगूर भी है, संतरा भी है वो सब उनकी बनाई हुई चीजें हैं पहले की।

"क्या बतलाऊँ आपको, कम्पनी का डिसिप्लिन का क़ायदा ख़ाली ऐक्टरों के लिए ही नहीं था, पब्लिक के लिए भी था। पब्लिक सोफे पर पैर रखकर बैठे, यह नहीं था। पैर के ऊपर पैर रखकर ही नहीं बल्कि पैर फैलाकर भी नहीं। अलीगढ़ में या कई जगह पे स्टुडेन्ट आते थे। पैर फैलाकर बैठते थे तो मालिक जाकर कहते थे उनको कि 'हमारी रोज़ी है, उधर पैर मत कीजिए।' यह कहने से कि 'यह हमारी रोज़ी है, हम इससे अपना पेट भरते हैं इधर पैर मत कीजिये' वो लोग मान जाते थे। वैसे आम लोग जानते थे। और वो स्पेशल क्लास का टिकट पांच रुपये का हरे रंग का जो होता था. उसके ऊपर पहली लाइन लिखी हुई थी—'प्रॉस नॉट एलाउड फॉर दिस क्लास।' तो क़ानून देखिये कि तवायफ़ इस क्लास में एलाउड नहीं है। आज कहीं मान सकते हैं इस चीज़ को, पर कम्पनी में इस बात पर अमल होता था। लेकिन एक बार जब कम्पनी देहली गई तो एक वाक़या हो गया कि जिसे बतलाये बिना रहा नहीं जा रहा है। राजा भरतपुर की तवायफ़ थी श्यामाबाई। बहुत पैसा था। जवाहरात से लदी रहती थी। उनकी सेक्रेटरी थी अंग्रेज। दिन में रिजर्व करा लिया सोफा पूरा। तीन आदमी का सोफा था लेकिन दो आदमी बैठे। फर्नीचर सब साथ चलता था कम्पनी का, वैगनों में सामान चलता था। तो रात को जब पब्लिक आनी शुरू हुई तो फिरोज़ी रंग की साड़ी पहने वो और उसकी सेक्रेटरी आन करके बैठ गई सोफे पर। परी थी बिल्कुल। पब्लिक में सब बड़े-बड़े हिन्दू चुन्नामलवाले देहली के करोड़पति लोग

बैठे तो आपस में चर्चा हुई कि आज तवायफ़ बैठी है। आगे के ही सोफे पर बैठी थी। और भी फैमिली बैठी थीं। तो एक जौहरी ने कहा सेठ से। स्पेशल क्लास के सामने तीन कुर्सियां थीं, उन पर मालिक बैठते थे। कहा—'सेठ जी।' वो खड़े हो गये। बोले—'आइए लालाजी।' कहा—'आज आप का कानून बदल गया कुछ।' बोले—'नहीं, क्यों क्या बात है ?' कहा—'आज तो तवायफ़ आपके स्पेशल क्लास में आ के बैठी है।' मालिक घबड़ाए 'हमारे यहां तवायफ़ बैठी है ?' बोले—'जी हां श्यामाबाई, वही है आगे के सोफे पर।' बस उन्होंने अन्दर कहलवा दिया—ड्राप मत उठाना जब तक हम आदेश न दें। वहां तो घड़ी के टाइम पर सब काम होता था। तो अन्दर कहलवा दिया मेहरबानजी ने। ड्रामे का समय हो गया था। पहले तो स्टेज पर मेहरबान जी साहेब आये ड्राप हटाकर के और बोले—किसी मजबूरी की वजह से खेल शुरू होने में ५-६ मिनट लेट हो जायेगी। वहां तो कभी एक मिनट लेट नहीं होती थी। समय से शुरू होता था नाटक। जनता चाहे दो आदमी हों चाहे हाउसफुल हो, शो समय पर शुरू होगा। इनचार्ज अमृतलाल मेहता थे काठियावाड़ के। सब क्लासों में जितने क्लास थे तीन रुपये के, दो रुपये के, एक रुपये के, आठ आने के, सब के पारसी टिकट-कीपर थे। स्पेशल क्लास में अन्दर बैठाने के लिए नम्बर नहीं होता था। टिकट पर नम्बर होता था। लेकिन सोफे के ऊपर खाली कार्ड का टुकड़ा कटा हुआ था उस पर "R" बना हुआ था। वो सुतली से बांध दिया जाता था। उतनी जगह पर जहां वह कार्ड लगाया हुआ है समझ लीजिये पब्लिक नहीं बैठेगी। अमृतलाल मेहता श्यामाबाई के पास गये और कहा 'जरा मेहरबानी करके दो मिनट के लिए बाहर आइए।' वो समझ गयी और बोली—'गेट आउट।' वो चला आया बेचारा मेहता और आकर बोला : 'वो बहुत नाराज हो गई। मुझे बहुत डांटा।' तो मिस्टर सिन्धी थे मैनेजर। वो ग्रेट वार में फौज के रिटायर्ड लेफ्टिनेंट गवर्नर थे। ऐंग्लो इण्डियन थे। वो गये और उससे कहा तो बोली—'नहीं, टिकट खरीदा है, नहीं जायेंगे।' मतलब अकड़कर बात की उसने। वो बाहर आये। इत्तफ़ाक़ से मालिकों के पास बैठे हुए थे शहर कोतवाल। मल्लिक देवी दयाल डी० एस० पी० देहली के। वो बहुत दोस्त थे। मेरा एग्रीमेन्ट जब देहली वालों से हुआ तो उसमें गवाह की जगह साइन करने वाले वही देवी दयाल थे। मेरी तनख़्वाह के बारे में उन्होंने कहा कि हम खेल देख रहे थे बोले 'फिदा, तुम्हारी बीस रुपये तनख्वाह रखते हैं' तो हमने कहा—'इतना मैं क्या करूँगा ? दस ही रुपये दीजिये।' बोले 'ऐ गधा' और हंस दिये। मेरे शौक की याद आती है। तो मल्लिक देवी दयाल से उन्होंने कहा कि 'जब तक मसला हल नहीं होगा हम ड्रामा नहीं शुरू कर सकते और वो उठने को तैयार नहीं।' उन्होंने कहा 'उपाय मैं बताता हूँ लेकिन उस पर तुम अगर अमल कर सको तो। और बाद में मैं देख लूंगा।' कहने का मतलब कुछ कार्यवाही नहीं होने दूंगा। कोतवाल तो वो थे

ही। बोले—'किसी सूरत से सोफा पर बैठी-बैठी उन्हें उठाकर ला सकते हो ?' तो उन्होंने कहा—'यह कौन बड़ी बात है।' चार स्टेजमैन बुलवाये तगड़े और दो पठान दरवान थे ही। वो पठान भी ऐसे कि बड़े-बड़े बदमाशों को गर्दन से फेंक दें। बड़े क़द्दावर और ताक़तवर थे। सैयद अकबर था बड़ा बदमाश। सब डरते थे। वो ६ आदमी को ले गये। उस समय तीन और पांच रुपये वाली पूरी पब्लिक में जो स्पेशल क्लास और आर्केस्ट्रा में थी चर्चा हो रही थी कि आज देखें कम्पनी का क्या होता है। तो वो चुपचाप गये और जा के चारों तरफ से ६ आदमियों ने सोफे को घेरकर उठा लिया। साथ में मेम जो थी वो 'डैम इट, डैम इट' करती थी पर कोई सुनने वाला नहीं था। सोफा लाकर बाहर रख दिया और गेट पर खड़े हो गये। उसने कहा 'कम्पनी को बन्द करा देंगे, तुम को.,।' मालिकों को वार्निंग दी—'तुम को जेल न भिजवा दूं तो···।'राजा भरतपुर की रण्डी थी। पर कुछ हुआ नहीं। मल्लिक देवीदयाल और कप्तान पुलिस सब कम्पनी के दोस्त थे। उसकी क्या हस्ती थी। क्या कर सकती थी वो। किया हो तो भी कोई सुनवाई नहीं हुई होगी। लेकिन क़ायदा मज़बूत रहा, उसे टलने नहीं दिया। असल में यदि कुछ नुक़सान भी होने वाला हो और उसको उठाने के लिए आदमी तैयार हो तो फिर इन बातों पर अमल भी किया जा सकता है। और हमारी कम्पनी यह करती थी।

"एक क़िस्सा और सुनाऊं आप को। हरिद्वार कम्पनी कुम्भ के मेले में गयी थी १६ से २० लाख आदमी जमा थे कुम्भ में। वहां कम्पनी गयी, थियेटर बनाया, टीन का मंडवा वग़ैरह। वहां अमरनाथ करके एक सब-इन्सपेक्टर था पुलिस का। वो आ गया। मतलब वर्दी में था, आकर बैठ गया सोफे पर। उस क्लास में सब-इन्सपेक्टर नहीं बैठ सकता था। आर्केस्ट्रा में बैठना पड़ेगा। कोतवाल, डी. एस. पी. या डी. एम. वगैरह हो सोफे पर बैठ सकते थे। पर वो बैठ गया तो उससे अमृतलाल ने कहा 'दरोग़ाजी, यह सोफा रिजर्व है।' बोला—रिजर्व है ? ठीक है। तुम अपना काम करो जाओ···।' अगर सोफा रिजर्व नहीं होता तो बर्दाश्त कर लेते, लेकिन चूंकि वो सीट बिक चुकी थी और वो आदमी अगर दूसरी जगह बैठने को तैयार नहीं होता तो मुश्किल होती। तो उनके आने के पहले ही ख़ुद मालिक माणिक साहब ने कहा--'ओ मिस्टर अमरनाथ, तुम दूसरी सीट पर आ जाओ।' बोला 'नहीं, हम तो यहीं बैठेंगे।' बोले—'नहीं, यहां नहीं बैठ सकते, रिजर्व है। उधर जाओ।' तो जवाब में अमर नाथ मुँह से कुछ ग़लत अलफाज़ निकाल कर बोला। मालिक को ग़ुस्सा आ गया। बोले—'अच्छा।' माणिकशाह भी बहुत क़द्दावर आदमी थे। आदमियों में सबसे अलग ही, इतने ऊँचे थे, तन्दुरुस्त थे। वर्जिश भी करते थे सैण्डो वग़ैरह की तमाम। उसको कहा—'तुम नहीं उठेगा ? ये मर्ज़ी तेरी।' इतना कहकर उसको दोनों हाथों से घसीटकर बाहर ले गये। बाहर ले जाकर टीन की जो दीवार बनी हुई थी उसके

पीछे स्टेज था। घसीटकर वहीं ले गये और इतना मारा, इतना मारा उसको, इतना मारा माणिकशाह सेठ और सिधी साहब और फरमारो सेठ तीनों ने मिलकर, इतना मारा कि वो गिर पड़ा। फिर शराब की बोतल मंगवाकर उसके ऊपर उलट दी। पारसी थे, छुट्टी के दिन पीते थे। इतना करके पुलिस कप्तान को फोन कर दिया कि आपका दरोग़ा शराब पीकर यहां हो हल्ला कर रहा है। अंग्रेज कप्तान था, तुरन्त पहुंच गया। और हां, अमरनाथ की मोटर साइकिल की साइडकार में बोतल छिपा दी। वो अंग्रेज साहब आ गया फौरन। देखा कि शराब की बू आ रही है। बिगड़ कर उसको उठवाकर ले गया। अब तो शराब...मौत आ गयी उसकी गोया। कप्तान पुलिस के आने के मायने थे। मालिकों ने कप्तान से कहा कि अगर ये होगा साहब तो शो बन्द करवा देंगे। तो ये इतने कड़े थे। बदमाश की बदमाशी नहीं चलने दी कभी न्यू एल्फ्रेड में। अमृतसर में एक बदमाश ने बहुत ज़ुल्म कर रखा था। जो कम्पनी जाती थी उसको तंग करता था। हेड कांस्टेबल था लेकिन पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट उसको बहुत चाहते थे, साथ ही रखते थे। इसलिए वह सिर पर चढ़ा था। माणिक सेठ और दोनों पठानों ने मिलकर बोतल से सर फोड़ दिया था उस बदमाश का। उसके बाद वह अमृतसर में दिखाई ही नहीं दिया। मतलब यह कि पूरा इन्तज़ाम करके कम्पनी चलती थी।

"अब आपको कम्पनी के डिसिप्लिन और तौर-तरीक़ों की कितनी बातें बताऊँ। सब कुछ तै होता था, बंधा होता था। खाने-पीने की कहिए तो, रिहर्सल और शो को लीजिए तो, हर जगह वही रवैया। हम सबको खाना कम्पनी से मिलता था—फर्स्टक्लास, बेहतरीन। खाना बनने के बाद हिन्दू रसोड़े से दाल-सब्ज़ी एक-एक तश्तरी में और इधर से जो पकता था वो पहले मालिक के पास प्लेट में आता था। उनको ख़ुद खाकर देखते थे। कुछ गड़बड़ होने से...मतलब रोज़ का ये नियम था। और आज की तरह ग्रेडेशन नहीं होता था, एक ही खाना सब के लिये होता था। सुबह दो अण्डे। अब उस अण्डे को कोई फ्राई करवाता था तो कोई कुछ। उसके लिये इजाज़त थी। लेकिन दो चपाती, दो अण्डे और चाय। चाय एक कप, दो कप या तीन कप पीये कोई बात नहीं। तो ये सुबह का नाश्ता था। नाश्ते का टाइम बंधा था। ८ बजे घंटी। ८ बजे नाश्ता तैयार हो जाता था। रिहर्सल ९.३० बजे हो तो ८.३० बजे पहली घंटी हो जायेगी। इसके माने जिन्होंने नाश्ता नहीं किया है आके नाश्ता कर लें। बावर्चीखाने में ही जाना होता था नाश्ते के लिये। और ९ बजे जो दूसरी घंटी बजेगी उसके बाद नाश्ता नहीं मिलेगा। कितना ही बड़ा कलाकार क्यों न हो अगर समय के बाद चाहे तो नाश्ता नहीं। तो वो सब पालन होता था। दूसरी घंटी रिहर्सल के लिये भी होती थी और खाने के लिये भी। ९.३० बजे रिहर्सल है तो पहली घंटी ८.३० बजे। सर्दी के दिनों में ९.३० बजे तक नाश्ता

चलता था। ९.३० घंटी हुई रिहर्सल के लिए भी और खाना बन्द करने के लिए भी। अगर घर से थियेटर बहुत दूर है तो मकान में रिहर्सल होती थी। हाल जैसे कमरे में। ठीक दस बजे घंटी हुई। जो घंटी देने की ड्यूटी करता था उसका नाम चौथ था। जेनिथ की घड़ी उसको दी हुई थी। उसके लिए नियम था कि रोज़ सुबह सात बजे जाकर स्टेशन या पोस्ट ऑफिस की घड़ी से घड़ी मिलाकर लायेगा। उसकी ये ड्यूटी थी। और उसका काम था दिया-बत्ती का इन्तज़ाम करना। उस समय सब शहरों में लाइट नहीं थी। दिन में वह सब हरिकेन, लालटेन साफ करके, तेल भरके २०-३० जितनी लालटेन हैं सब की सफाई करके भर कर रखेगा और शाम को जलाकरके हर एक कमरे में रख आएगा। उसके बाद लोबान, धूप वगैरह आग में डाल करके सब कमरों में धुआं दे करके आयेगा। माने ख़ुशबू हो जाये।

"हाँ, तो मैं कह रहा था कि रिहर्सल की १० बजे घंटी हुई। मेहता जी हाज़िरी लेते थे मगर कभी ऐसा मौक़ा नहीं आता था कि कोई लेट हुआ हो। डरते थे न? सोहराबजी तो ५ मिनट पहले खुद ही बैठते थे आकर के और अब सोहराब जी के सामने अगर कोई २ मिनट लेट पहुंचेगा तो बहुत मुश्किल थी। उनसे सब डरते थे बहुत ..सोहराब जी को अगर मालूम हो गया तो मुसीबत थी। सब अपनी ड्यूटी बजाते थे। और एकाध आदमी ऐसे भी थे जो मनमानी करते थे लेकिन सोहराबजी ने उन पर सख्ती नहीं की और कर लिया उसको भी ठीक समझा-बुझाके। सूरज राम का ज़िक्र किया था लेकिन समझा लिया उसको भी। सूरज राम बड़ा ज़िद्दी था मगर उसकी ज़रूरत थी। बड़ा अच्छा ऐक्टर था। हमने पहले बीमारी का ज़िक्र किया था न। वह सूरज राम ही था जो ऐसा बीमार हुआ कि पूछिये मत। उसने सोहराब जी को जबाब दे दिया था मुंह पर तो सोहराब जी ने बर्दाश्त कर लिया था उस समय। उसको जबाब नहीं देना चाहिए था। लेकिन वही आदमी जब बीमार हुआ तो उसका पाखाना-पेशाब किया सोहराबजी ने। कोई तैयार नहीं था इसके लिए। ऐसा दिल भी था उनका। बड़े ऐक्टर थे सोहराबजी। कॉमेडियन कलाकार तो उनके जैसा पारसी रंगमंच पर पैदा ही नहीं हुआ आज तक। ...चलता पुर्जा ड्रामा—पूरा ड्रामा वही थे। जैसे मिसेज़ संपत या इस तरह की कहानी में तो पूरे सब कुछ वही रहते थे। सोहराब जी के 'सिकन्दर खान' के पार्ट के फोटो इंग्लैण्ड तक गये। तो घंटी हुई। रिहर्सल चालू हो गया। जब ड्रामे का शो हो रहा हो तो सीटी बजेगी तब पर्दा उठेगा, ऐसा नहीं था। वहां नोटबुक लेकर एक आदमी कुर्सी पर बैठा हुआ है। सीन ख़त्म होगा, उसके पास एक धागा है पतला सा। वो धागा वहां से चलकर पर्दे के पास तक जाता है। वहां एक छोटी सी घंटी है जो और किसी को नहीं सुनाई देती सिर्फ़ पर्दे वाले को सुनाई देती है। उस घंटी के बजने पर ही पर्दा उठेगा या गिरेगा। वन्स मोर होगी जो वहीं उसके हाथ में स्विच है,

वही संगत वाले को बतायेगा। वहां एक लाल बत्ती थी, उसको जला देगा। मतलब वन्स मोर दी जायेगी। ...हां तो हम रिहर्सल की बात कर रहे थे। रिहर्सल के अन्दर भी क़ानून था। असल में जब सोहराब जी बताते थे तो कलाकार ख़ुद भी देखना चाहते थे। ऐसा नहीं था कि मजबूरन देखते हों, वो शौक़ से देखते थे। सीखने को मिलता था। बड़े से बड़ा कलाकार भर्ती किया जाता था तो भी तै था कि पहले वो ६ महीने तक नाटक देखेगा बाहर बैठकर ताकि वो समझ सके कि इस कम्पनी का स्टैन्डर्ड क्या है, डायलॉग का तरीक़ा क्या है, इस कम्पनी का माहौल कैसा है। इसके लिये ६ महीने तक बाहर बैठकर ड्रामा देखना पड़ता था और उसके बाद जब वो निकलता था तो पूरे हिन्दुस्तान में उसका नाम होता था।

"देखिए न हम लोग रिहर्सल और शो के दौरान कैसी भाग-दौड़ कर रहे हैं। कभी रिहर्सल की बात, कभी शो की बात। असल में न्यू एल्फ्रेड के डिसिप्लिन का कोई मुक़ाबिला नहीं था। शो के ही मैनेजमेंट और समय की पाबन्दी का क़िस्सा सुनिए। शो ९.३० पर शुरू होने वाला है। पहली घन्टी बजी ८ बजे। इतना बड़ा घन्टा था। जंजीर से टंगा रहता था, जैसे मन्दिरों में होता है। घन्टे को सौ बार बजाना पड़ता था, दो चार कम नहीं रह सकता था। टन्टन् जैसे फायेर ब्रिग्रेड का घन्टा होता है उतना बड़ा घन्टा। १०० पूरा बजाना पड़ता था। दूसरी घन्टी ९.१५ पे, उसमें पूरा ५०। तीसरी घन्टी पे २५ ही बजेगा खाली और प्रार्थना के लिए सब लाइन में खड़े होंगे। जो ऐक्टर मेकअप कर चुकेगा वो ड्रेस नहीं पहन सकता। पहले सोहराबजी के सामने जाना पड़ेगा उसको कि कहीं जल्दी में कुछ गड़बड़ तो नहीं कर लिया। तीसरे ड्राप में आखिरी सीन में काम है मगर आना पड़ेगा ८.३० पर ही थियेटर में। ये नहीं होगा कि आपका काम देर से है तो देर से आयेंगे। लड़के जितने थे उनका इनचार्ज क्लास मास्टर होता था जो डान्स सिखाता था। सब लड़के पाउडर करने के बाद इकट्ठे होते थे स्टेज पर। लाइन से खड़े हो गये, उसने देख लिया। काजल कैसे लगाया है, आंखें कैसी बनी हैं वग़ैरह वग़ैरह। जो भी नुक़्स हुआ बता दिया—ठीक करो। कलाकार मेकअप करके सोहराबजी के सामने जायेंगे। कोई फांकी नहीं मार सकता था, कोई फांकी नहीं चल सकती थी कि टाल दिया जाय। ड्रेस के लिए क़ानून था कि अपनी ड्रेस उतारेगा तो उसको उल्टी करके टांगनी पड़ेगी। लम्बी लम्बी पट्टियां लगी थीं, उस पर हद क़ायम थी। ८ कीलें अब्राहम काबली, सूरजराम, दयाशंकर, फिदाहुसैन वग़ैरह की। वहां पर सब ड्रेस टंगी है। उसके नीचे पेटी है। उस पेटी में खाने बने हुए हैं चड्डी, अन्डरवियर और बण्डी अन्दर उसमें है। अपना कपड़ा नहीं पहन सकता था वहां जाकर कोई, उसको वहीं का कपड़ा पहनना पड़ता था। वो धुलाई होता रहता था बराबर। आर्टिस्ट को जो भी ज़ेवर, मोती का हार पहनना है, कान में कुण्डल पहनना है धार्मिक खेल में और मोजे और शॉर्ट ड्रेस वग़ैरह

सब उसको सम्हाल कर रखना पड़ता था। उसी पेटी के अन्दर रहता था। ड्रेस वाला दिन में तमाम चीज़ें सबकी टांग देगा। लेकिन जब कलाकार का काम खत्म होगा तो ड्रेस उसको अपने आप उल्टी करनी पड़ेगी। इतने कानून थे इस तरह के।"

बात करते हुए दो घन्टे से ऊपर हो चुका था। हमने सोचा, आज यहीं तक। आश्चर्य हो रहा था फिदा हुसैन की स्मृति पर, बोलने की क्षमता पर। कुर्सी पर सीधे बैठे वे बोले जा रहे थे, दूर रखा टेपरिकार्डर का बिल्ट-इन-माइक उनकी आवाज़ को आसानी से ग्रहण कर रहा था। फिदा हुसैन के प्रारम्भिक जीवन एवं न्यू एल्फ्रेड कम्पनी के उनके कार्यकाल के माध्यम से हमें बीसवीं सदी के प्रारम्भ के नाटकीय माहौल, पेशेवर कम्पनियों की आर्थिक स्थिति, अनुशासन, कला का श्रेष्ठ मान-दण्ड आदि को जानने-समझने का अवसर मिला। अवश्य ही सारी पारसी नाटक कम्पनियां न्यू एल्फ्रेड जैसी अनुशासित और व्यवस्थित कम्पनियां नहीं थीं फिर भी पारसी कम्पनियों में से एक महत्वपूर्ण नयी कम्पनी की कार्यक्षमता व कार्यप्रणाली को हमने जाना-समझा और उसके माध्यम से पारसी रंगमंच पर काम करने वाली कम्पनियों के एक सशक्त पक्ष का साक्षात्कार किया।

इस सारी बातचीत के दौरान फिदा हुसैन साहब ने अपने बचपन की बातें तो विस्तार से कीं पर उसके बाद सामान्य पारसी कम्पनियों और विशेष रूप से न्यू एल्फ्रेड कम्पनी की कार्य पद्धति की ही चर्चा की। बड़ी विनम्रता से बीच बीच में उन्होंने अपने बारे में इतना ही कहा—'बड़ा अच्छा रोल था' या 'पब्लिक ने बहुत पसन्द किया।' उस जमाने में पब्लिक की पसन्द कितना महत्व रखती थी, यह बात समझ में आयी। व्यावसायिक कम्पनियों के लिए उस ओर नज़र रखना अत्यन्त आवश्यक था। कोई ड्रामा पब्लिक पसन्द न करे तो कम्पनी चले कैसे।

फिदा हुसैन के चरित्र की एक खास बात भी सामने आयी। श्रेष्ठ व्यक्तियों के गुणों को उन्होंने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया, वो चाहे कलाकार हो और चाहे कोई अन्य व्यक्ति। अपनी बात संक्षेप में विनम्रता से की, दूसरों की विस्तार से, दिल खोलकर। बहुत अच्छा लगा। ऐसी गुण-ग्राहकता और उदारता बहुत कम देखने को मिलती है।

अगले दिन हम बैठे तो बात मूनलाइट थियेटर में आने से शुरू की। फिदा हुसैन साहब ने २० वर्षों तक मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता में काम किया और सन् १९६८ में जब छोड़ा तो मालिकों ने थियेटर ही बन्द कर दिया। फिदा हुसैन सन् १९४८ में कलकत्ता मूनलाइट में आये। उस समय मूनलाइट को चालू हुए कई साल हो चुके थे। मूनलाइट के मालिक मेहरोत्रा चार भाई थे। उनमें सब से छोटे थे गोवर्धन

बाबू। उन्हीं के चलते मूनलाइट चला। मूनलाइट की बात पूछने पर फिदा हुसैन ने सबसे पहले चर्चा छेड़ी गोबर्धन बाबू की।

"थे तो भाइयों में सबसे छोटे लेकिन बड़े भाई भी उनके सामने नहीं बोल सकते थे। कोई बात हो तो लाला हमेशा धौंस देता था—'हम जापान चले जाएँगे।' तो उस वक़्त उन्होंने कम्पनी का एक छोटा प्रोग्राम तैयार करवाया जिसमें एक पिक्चर और आधे घन्टे का डांस, क़व्वाली, ग़ज़ल और कॉमिक का सीन रखते थे। वह ख़ूब चला। चार-चार शो होते थे। दस साल तक १५ हज़ार रुपये से कम नहीं बचता था उन्हें ख़र्चा निकाल करके। उसी से मिल वगैरह सब खरीदकर लायी गई। भारत उलेन मिल जो कायम हुई वह मूनलाइट की कमाई से ही। उसके बाद जब उन्होंने हमारी शोहरत सुनी तो उनकी बहुत चाहत हुई कि मैं उसमें आऊँ क्योंकि छोटी कम्पनी में भी उन्होंने बड़े से बड़े आर्टिस्ट को नहीं छोड़ा था। पेशेन्स कूपर को भी कज्जन को भी ख़ूब पैसा देकर ले आये। पेशेन्स कूपर बड़ी ख़ूबसूरत थी। तीन बहनें थीं, एँग्लो इण्डियन।

"हां, तो हम जब शाहजहां कम्पनी के साथ थे तो बात शुरू हो गयी। कम्पनी करते-करते करांची पहुंची। वहां कम्पनी बन्द हो गयी। गोबर्धन बाबू को जब बम्बई में मालूम हुआ कि कम्पनी बन्द हो गयी, फ़िदा हुसैन उसमें हैं तो वे बम्बई से करांची पहुंचे। उनको धुन थी कि अपनी कम्पनी को बढ़ायेंगे लेकिन प्रोग्राम उनका वही चलता था छोटा—एक पिक्चर साथ में। कम टिकट। बड़े से बड़ा टिकट एक रुपये या बारह आने का था। मूनलाइट के अन्दर गैलेरी मिला करके ७५० सीटें थीं। आगे का टिकट तीन आने का होता था। उसमें बेंचें होती थीं। बाक़ी और। उनका चलता बहुत अच्छा था···वार का ज़माना था, कलकत्ता में तमाम फ़ौज भरी थी। चार-चार शो होते थे। ख़ैर, वो बम्बई से करांची पहुंचे। तो हमको बुलबाया होटल में। हम तो बेकार थे, कम्पनी बन्द थी। माणिकलाल आने नहीं देते थे। कहते थे कि आप चले जाएँगे तो और सब भी भाग जायेंगे। कुछ होगा इस आशा पर दिन गुज़ारे थोड़े पर कितने दिन तक बैठा रहता? तो गोबर्धन बाबू जब पहुंचे तो उनसे बातचीत हुई और डेढ़ सौ रुपया हमारी तनख़्वाह सेटल हो गयी। उन्होंने पूछा—'कितना रुपया चाहिए आपको?' ख़ैर, हमको डेढ़ सौ देकर वो कलकत्ते आ गये। पर हमने माणिक लाल को सच बात नहीं बतायी, बहाना किया। कहा—'हम आ जायेंगे लौटकर घर पर जरा बहुत ये है···'मतलब प्राइवेट रखी वो चीज़। सुलताना साथ में थी, अमिता की मां वग़ैरह हैदराबादी नूरजहां की बहन—ये सब थीं वहां पर। हम तो बहाना करके नौकर को लेकर चले आये। छब्बीस रुपये किराया लगा कलकत्ते का करांची से। एक ही टिकट मिलता था—ट्रेन चेंज हुई बीच में लेकिन टिकट एक मिलता था। वहां से कलकत्ते आये। मूनलाइट में बुलाया उन्होंने मिलने के

लिए। कलकत्ते में आकर देखा—तो देखा सड़क पर बहुत दूर तक लाइन लगी हुई थी पब्लिक की। लेकिन ये सब बीड़ी वाले और लुंगी वाले। हमारी लुंगी वाली पब्लिक नहीं थी। मारवाड़ी समाज का एक आदमी भी वहां पे नहीं दीख रहा था। सब ये चटकल के मजदूर और बीड़ीवाले थे। तो मन में कहा-बड़ी मुश्किल है। अन्दर गये। बहुत खातिर की हमारी। हमने कहा-'मुझे कुछ कहना है।' बैठे हुए थे बोले—'कहिए क्या बात है ?' मैंने कहा—'मैं यहां काम नहीं कर सकूंगा।' चुप। एक मिनट चुप रहे फिर बोले—'अच्छा ठीक है, कोई बात नहीं, कोई बात नहीं।' तो मैंने कहा—'आप का रुपया मैं···' बोले-- नहीं, रुपया हम नहीं लेंगे। आबोदाना होगा तो फिर देखेंगे।' माने रुपये नहीं लिये मुझसे। वैसे मेरे पास रुपया उतना था भी नहीं। उनसे कह दिया था तो साधन कोई हो ही जाता पर मेरे पास उतना रुपया था नहीं। सो इस तरह पहली बार मूनलाइट के लिए कलकत्ता आकर भी मूनलाइट में रहना नहीं हुआ। वह हुआ इसके सात-आठ साल बाद। पर इस बीच बहुत कुछ मैंने किया सो पहले वह सब क़िस्सा सुनिए। मूनलाइट में तो मैं उस समय नहीं गया पर कलकत्ता में ही और लोग पीछे पड़े। उन दिनों मारवाड़ी नाटक चल रहा था ग्रेस में। इसमें भरत व्यास 'रामूचरना' कर रहे थे। कलकत्ता के मारवाड़ी पैसा लिये हुए घूम रहे थे पीछे हमारे कि 'फिदा हुसैन ने साथ ले लो तो मैं लाख रुपया लगा देस्यूँ, लाख रुपिया।' मारवाड़ी प्रोग्राम के लिए। बिरजी चंद बात कर रहे थे कानपुर से, जे० के० वाले पदमपत सिंहानिया, कमलापत सिंहानिया के लिए। नरसी मेहता के वो आशिक थे। इतने आशिक थे वो और उनकी मां कि जब तक कम्पनी कानपुर में रही तब तक, आयें न आयें उनका एक सोफा रिजर्व रहता था, पैसा पहले आता था। उनकी मां मेरे मार्फत भगवान कृष्ण के पैर छूती थीं। कहती थीं—'नरसी जी म्हने मिलवा दो' ऐसी उनकी श्रद्धा थी। गनपत बनता था कृष्ण। वो तो इतनी खातिर करती थीं कि पूछिए मत। सर्दी के दिन आ गए तो हमको और कृष्ण को बहुत अच्छा कम्बल प्रेजेन्ट किया ला कर के। याने सर्दी लगती होगी भगवान जी को, नरसी जी को। शार्ट में बात यह कि मुझे कानपुर का निमंत्रण मिला। उस समय एमरजेन्सी एरिया था कलकत्ता। हम ग्रेस में 'कंकावतीर घाट' देख रहे थे, महेन्द्र गुप्त थे। वह चल रहा था बड़े ज़ोरों से। बहुत अच्छा चला वह ड्रामा। इन्टरवल में जो बाहर निकले तो 'कैलकटा एमरजेन्सी एरिया' स्टेट्समैन का टेलिग्राम निकला था। उस पर पब्लिक का जो हाल हुआ पूछिए मत, बेहद घबरा गई। गर्वनर का आर्डर था। यह सन् ४२ की बात है जब जापान का ख़ौफ हुआ था। अब वहां से भगदड़ मची...ऐक्टर भी घबरा गये। सब की मेरे कमरे पे दृष्टि। हम ६-६ महीना, तीन-तीन साल तक नहीं आये पर किराया देते रहे, कमरा बंद रहता था। मंदिर स्ट्रीट १ नम्बर। मूनलाइट के पास ही। कमरे में

जो ऐक्टर आता वह यही कहता हुआ आता कि—'अरे मेरे बाप, यहां से निकालो। अरे, यहां बम गिरनेवाला है, बचाओ।' पेशेन्स कूपर भी। सब परेशान। पेशेन्स कूपर थियेटर रोड पर रहती थी हसन इरफानी के पास। मुझे बुलवाया—'मास्टर, आप ही मदद कर सकते हैं नहीं तो सब ऐक्टर भूखा मरेगा। देखिए यहां से निकल चलिए।' कलकत्ता में यह हाल था। ऐसे में कानपुर का प्रस्ताव आया तो झट से मंजूर कर लिया। बहुत सारा स्टाफ भर्ती किया। मूनलाइट से बहुत सारे आदमी लिए और तै कर लिया कि सामान लेना है। माणिकलाल की कम्पनी इसी मूनलाइट के ज़माने में बनी थी। केशरदेव चमड़िया को लेकर के। उस समय एक नाटक के लिए उन्होंने चालीस-पचास हजार रुपये फूंका था। कम्पनी चली नहीं और सामान पैक करके उनके गोदाम में पड़ा था। अच्छा सामान था। सीन-सीनरी, ड्रेस वग़ैरह सभी थे। तो उस सामान के लिए हम उनके पास गए। केशरदेव चमड़िया हमको बहुत मानते थे। उनके पास गये कि सामान ..। तो बोले 'अरे भाया, मेरो तीन सौ रुपये को गोदाम घिरो है।। गोदाम खाली कर दे, फ्री ले जा।' मैंने धीरे से पूछा—'कितना पैसा देना पड़ेगा?' तो बोले—'अरे, म्ह कहं हूं न, तू फ्री ले जा, मेरी गोदाम खाली करवा दे।'

तो साहब एक हज़ार रुपये में हमने सामान ले लिया। कम से कम चालीस हज़ार रुपये का सामान था। वो तो निकालना चाहते थे। सामान लेकर के, वैगन में पैक करके, नवाब मिस्त्री, पेंटर मूनलाइट से, सब को लेकर के कानपुर काफिला चला। अपनी कम्पनी का नाम रखा नरसी थियेट्रिकल कम्पनी। मैं ही मालिक था उसका। पैसा उनसे ले लिया था, पांच हजार रुपया दिया था कैलाश बाबू सिंहानिया ने। पांच हजार पट्टे लिया और सात हजार एक दफा और लिया। फिर तो कम्पनी चालू हो गयी और खूब चली कम्पनी। तीन महीने के बाद वहां पर भी भगदड़ शुरू हुई। लड़ाई का सामान वहीं कानपुर में बन रहा था। वहाँ इण्डस्ट्री थी। लेकिन वहां के जो कोतवाल थे खान बहादुर बशीर और डी० एम० था कलक्टर उनके बंगले पर आना जाना था मौली डांसर और कूपर की वजह से। तो उन्होंने कम्पनी की मदद यह की कि महीने में तीन शो पुलिस के लिए ले लिए। उन तीन शो के अन्दर ऐक्टरों को जितना पेमेन्ट करना होता था, उतना दे देते थे। टिकट काफ़ी बेचते थे। आठ महीने कम्पनी चली कि गांधीजी का सन् ४२ का आंदोलन शुरू हो गया। तो यह मालूम हो गोया ५७ का ग़दर हो गया, इस तरह का माहौल बन गया। फिर कम्पनी बंद की और पैसा उनसे लेकर सबको किराया देकर रवाना कर दिया। सामान वहीं पर रख दिया। मैं मुरादाबाद आ गया। मुरादाबाद आने के दूसरे ही दिन दिल्ली से बाबू रोशनलाल का मैनेजर आया किशन लाल भाटिया। बोला 'बाबू साहेब ने आपको बुलाया है।' बाबूजी भी बहुत दिनों

से मेरे लिए अरमान लगाए बैठे हुए थे। वहां गये। उनकी कम्पनी बीस साल से चल रही थी मगर पब्लिक कोई नहीं जाती थी। उनका शौक़ था। मगर हिन्दू पब्लिक का उधर कोई इन्टरेस्ट नहीं था। 'लैला मजनूं' होता था दो दिन और हाउसफुल जाता था। उसी में कम्पनी चलती थी। मैंने नरसी मेहता निकाला। तीन सौ नाइट वहां नरसी मेहता हुआ—देहली में। उसी में डी० पी० श्रीवास्तव, सर जगदीश और जुगल किशोरजी बिड़ला आये। कितने ही लोगों ने बीस-बीस मर्तबा देखा, डेढ़ सौ मेडल मिले मुझे। सोने के जो थे उन्हें लड़कियों ने निकाल लिया, पहन लिया। चाँदी के पड़े रह गये। चाँदी के मेडल का मुझे क्या करना था। मैंने उन्हें गलवा दिया। चौदह सौ रुपये की चाँदी निकली। मैं कह रहा हूं, छोटी सी बात है। मेडल काम के नहीं थे। मुझे ये शौक़ नहीं था कि मेडल लगाऊँ। चाँदी के कप वग़ैरह हमको मिले थे। हाँ, भरतपुर रियासत का मेडल, पटियाला महाराज का कप, बावन टौंक का मेडल और जैपुर का मेडल वो सब रखे हुए हूं।

"वहां तीन साल रहे। जो अख़बारों के बहुत सारे फोटू वग़ैरह हैं, वो उसी जमाने के हैं। वैसे तो करांची के अख़बार, लाहौर के अख़बार, बाम्बे के अख़बार, गुजराती के अख़बार सब में हमारी तारीफ़ निकली। बनारस के, इलाहाबाद के, लखनऊ के नेशनल हेराल्ड वग़ैरह में भी। तीन साल के बाद हमारी उनसे···। हमको बहुत मानते थे मालिक जो थे। लेकिन तीन साल के बाद मैं बहुत कमज़ोर हो गया था। मेहनत कर-करके बहुत दुबला हो गया था। हां, इसी बीच 'कृष्ण सुदामा'/ड्रामा निकाला। दो शो इतवार को होते थे। मुझे सीने में दर्द था, तकलीफ़ थी तो मैंने सनीचर के रोज़ उनको बुलाकर के कहा 'कल दो शो मत रखिए। तबीयत ठीक नहीं है।' क्योंकि सारा ड्रामा तो मेरे ऊपर था। उन्होंने कहा—'बहुत अच्छा साहब।' बाहर आकर उन्होंने अपने डेरे में—तम्बू लगा हुआ था—मैनेजर को बुलाकर कहा—'भाई देखिए, अब ये ऐक्टरोंवाली बात है। फिदा हुसैन साहब भी गोया नखरा करने लगे।' कृष्ण चन्द्र भाटिया वैसे तो उनके नौकर थे, उनके रिश्तेदार थे, उनके बेटे बने हुए थे लेकिन उनसे ज़्यादा मुझको ईमानदारी से मानते थे। उनको बड़ा रंज हुआ। बहरहाल, किसी तरह बात मुझ तक पहुंची। जब बात पहुँच गयी तो दूसरे दिन लिखकर मैंने उनको दे दिया कि मैं काम नहीं कर सकूंगा। उसके बाद तो उन्होंने बड़ा तूफ़ान मचाया, हाथ भी जोड़े, लोगों से भी कहलवाया, कई दोस्त थे दिल्ली में मेरे···उनको बुलवा लिया लेकिन बात जो मुँह से निकल गई वापिस नहीं हुई।

"छोड़ने के बाद हम बॉम्बे जाने वाले थे कि इतने में तो राजा इंदरगढ़ साहब आ गये देहली में। और तवक्कली साहब को घेरा कि कम्पनी बननी चाहिए,

मास्टरजी को बुलाइए। तो ग़रज़ यह कि श्री मोहन थियेट्रिकल कम्पनी के नाम से कम्पनी बनी परेड रोड में। उसके लिए सामान लाए चरखारी से। चालीस लाख रुपये का सामान हमको उस वक़्त सात हजार में मिल रहा था। चालीस लाख रुपया बर्बाद हुआ है उस रियासत का उस कम्पनी के पीछे। राजा के शौक़ की कम्पनी थी। उसमें शरीफा को भी ·····। कोरथियन तीन लाख में खरीदी थी उसने और वो नहीं चला सका। दो लाख तो दे दिया रुस्तम जी को और तीसरे लाख में वो कम्पनी दे दी वापिस उनको। उस कम्पनी में दस कम्पनियों का सामान था। एक सौ दस पर्दे थे, चार सौ विंग्स थे। वशिष्ठ के ओढ़ने का दुशाला दो-दो हज़ार रुपये का था, सोना और जरी लगा हुआ था उसमें। राजगुरू थे न। और रशीदा का जो ड्रेस था, तुर्की हूर का। उसको लड़की-एक्ट्रेस-पहन ही नहीं सकती थी। उसमें तो बीस सेर वज़न था। बीस सेर वज़न था ड्रेस का। आप को यक़ीन आना चाहिये। और जूते थे। इतने बड़े-बड़े संदूक थे दो। उसमें कुछ नहीं तो एक हज़ार जोड़ी जूते थे। ड्रेस भी ऐसे ही। इतना सामान था कि जब हमने पांच हजार रुपया लगाया तो अहमुद्दीन बिगड़ गया। राजा को तो गद्दी से अलग कर दिया था। वही देख-भाल करता था। बड़ा सख़्त डण्डेबाज़ था दीवान था। तो बोला—'यह क्या ग़ज़ब करते हो फिदा हुसैन, कोई अन्धेर है? कितना रुपया बर्बाद हुआ है पता है? लाओ रजिस्टर।" बिगड़ गया। बड़ा रौब था उसका। इंग्रेज की तरफ से रखा गया था उसको। रजिस्टर आया तो बोला—'देख, अपनी आंखें फोड़। यह देख, इसमें क्या लिखा है?' चालीस लाख रुपया बर्बाद हुआ था उस कम्पनी पर। आगा साहिब भी थे वहां। पचास हज़ार रुपया तो सीता बनवास लिखवाने का दिया था। तीस हजार रुपया नगद दिया और बीस हजार रुपया ख़र्चा बैठा है उनका शराब का। पूरी दुनिया जानती है यह। जिस प्रेस में छपा था वहां फौज का पहरा था चारों तरफ ताकि चोरी न हो जाये। ये सब उस वक़्त के नख़रे थे। आगा साहब की पोजीशन क्या थी आप जानते हैं? हिज़ हाईनेस उनको बाबा कहते थे। बड़े बड़े महाराजा उनको मानते थे। सर सी० वाई० चिन्तामणि थे न जिनका लीडर अखबार निकलता था। अपनी ज़िन्दगी में उन्होंने आगा के सिवा और किसी का ड्रामा नहीं देखा। हम जब उनको बुलाने गये तो कहा—"भाई आगा का ड्रामा करो तो हम आएँगे।" बहुत क़द्र थी उनकी। सर मिर्जा इस्माइल और·····। आगा की कितनी इज्ज़त थी इसका एक क़िस्सा सुनाऊं। रात को ड्रामा था। महल से निकलकर के बाहर की तरफ से मोटर आती थी राजा की। उनकी तो मोटर उधर से आ रही थी, लाइट पड़ रही थी। आगा साहब नशे में थे। रेशमी लुंगी। पेशाब खड़े होकर कर रहे थे। तो उसने दूर से सर्च लाइट में देखा तो तुरन्त लाइट बन्द करवायी—"रोक दो गाड़ी, रोक दो। बाबा डिस्टर्ब न हों।" ऐसी इज्ज़त थी। एक बार वो सिगरेट

देने जा रहे थे। आगा साहब ने दरवाज़ा जो खोला तो राजा साहब के सिर में लगा। गुमड़ा पड़ गया मगर कुछ नहीं बोला। राजा था वो, हिज हाईनेस था। रियासत छोटी थी तो भी क्या हुआ, राजा तो था। पर कुछ न बोला। कहने का मतलब यह कि सात लाख की रियासत थी और चालीस लाख रुपये बर्बाद किया था थियेटर पर। जिद्दी था राजा। जब हमने सात हजार रुपये नहीं दिये तो नहीं दिया। हम सामान छोड़कर चले आए। पहले हम रोशन लाल की कम्पनी के लिए लेना चाहते थे फिर जब राजा साहब के साथ बनी तो फिर लेने गये। तो अहमुद्दीन बदल गया था। राय बहादुर बद्री प्रसाद दीवान आ गये थे। अहमुद्दीन चले गये थे दतिया में। बीस मील पर दतिया रियासत है वहां। तो उनकी मांग भी थी कि पचीस हज़ार दो। तो कहां पांच हजार और कहां पचीस हज़ार। सो हम लौट आए। बीस हजार में भी वो सामान देने को तैयार नहीं। दीवान की मर्जी थी कि सामान निकले पर नीचेवाले नहीं चाहते थे क्योंकि सब सोचते थे कि राजा फिर गद्दी पर बैठेगा दो साल बाद बालिग होने के बाद तो फिर कम्पनी बनेगी और सब ऐश करेंगे। सब खाते थे रुपया उसमें। हमने तवकली साहब से यह कहा। वे बोले—"अच्छा।" और उन्होंने चिट्ठी का ड्राफ्ट बनवाकर के और एक दरख़ास्त टाइप करवा करके हमें थमाया और कहा 'अब आप जाइए।'

"उन दिनों पोलिटिकल एजेन्ट रहता था झांसी में। तीसरा स्टेशन है नव गांव, वहां पूरे बुन्देल खण्ड का पोलिटिकल एजेन्ट था मिस्टर यार्डले। हम गये। एक अंग्रेज ब्रिगेडियर था, जो उनका कोई रिश्तेदार होता था। उसके नाम, एक चिट्ठी वहां से दिलवाई। हम वहां गये, ठहरे रायसाहब के यहां। कानपुर वालों की शराब की मिल थी। लाला हरकिशन बाबू की। मालूम हुआ कि साहब दौरे पर गया है, कल आएगा। बोर्ड पर लिखा हुआ था एक बजे कल। मुलाक़ात का डेढ़ बजे का टाइम था। हम वहां दूसरे रोज़ पहुंचे। उनके मुनीम साहब गये थे। तांगा था, उसमें गये। जैसा गवर्नर हाउस है वैसा ही उनका बँगला था। वहां चपरासी जो था वह मुसलमान था, पठान। बड़ी सुर्ख़ दाढ़ी। वो ऑफिस के सामने ही मुसल्ला बिछाकर नमाज़ पढ़ता था। तो हम बैठ गये। हम सोच रहे थे कि एक बजे का आने का उनका टाइम है, पता नहीं कितना बड़ा अफसर है। ठीक एक बजा और एक गाड़ी आ गयी। गाड़ी में बीजापुर और डोंगरपुर रियासतों के दीवान साथ बैठे हुए थे। आने के बाद वह सीधा ऊपर चला गया और छुरी-कांटे की आवाज़ चालू हो गयी, लंच टाइम था। फिर हमारे दिल में ख़याल आया—बात इसलिये कह रहा हूं कि वो लोग कितने पाबन्द थे कि कब तक खायेंगे, बैठेंगे···ठीक डेढ़ बजे चपरासी आया, चलिए बुलाते है। गये। बैठा हुआ था। पूरे बुंदेलखण्ड का नक़्शा लगा हुआ था। बहुत बड़ी टेबुल पर बैठा हुआ था यार्डले। हमने कहा 'साहब मैं सामान ख़रीदने

आया हूँ।' और ब्रिगेडियर की वो चिट्ठी दी। तो बोले—'अच्छा। आप किधर ठहरे हैं ?' मैंने कहा 'राय साहब के यहां।' तो बोले—'आपको कोई तकलीफ है ?' मैंने कहा—'नहीं मैं बहुत आराम से हूं।' बोले—'अच्छा कहिए, आप क्यों आए हैं, क्या चाहिए ? क्या ग़रज लेकर आए हैं ?' मैंने कहा—'चरखारी में जो सामान है, मैं उसको चाहता हूँ।' बोले—'मैं तो एक दरबान की हैसियत रखता हूं उसकी हिफ़ाज़त के लिए। वैसे इख़्तियार तो उन्हीं लोगों को है। आप उन लोगों से मिलिए।' 'मैंने कहा—'वो लोग नहीं देना चाहते सामान।' 'तो फिर इसमें मैं क्या कर सकता हूँ।' तो वो चिट्ठी जो वकील साहब ने दी थी—एप्लीकेशन—वो मैंने पेश कर दी। वकील साहब ने मुझसे कहा था कि मैं जो कहूँ वो लफ़्ज़ तुम उनसे बोलना। पढ़ने के बाद बोला—'ठीक है।' मैंने कहा—'साहब, आप कहें तो मैं कुछ अर्ज़ करूँ। वो इसलिए सामान नहीं निकालना चाहते कि दो साल के बाद राजा फिर गद्दी पर बैठेंगे आप के हाथ से और गद्दी पर बैठने के बाद फिर से सबकी बन आयेगी। सब लखपती हो गये हैं, सबने रुपये खाये हैं इसमें।" सो बस एकदम उसके दिमाग़ में आ गया—"राइट"। एप्लिकेशन लेकर उस पर लिख दिया कि मेरे ख़्याल से बीस हज़ार रुपये ठीक हैं। मैंने बीस हज़ार ही लिखा था। सामान राजा का था, दर्द किसे था, न उन्हें न फिदा हुसैन को। वहां तो ऐसे ही चलता था। बीमा करवाने के लिए साठ हजार रुपये का एडवान्स (प्रीमियम) था। बीमा हुआ न कुछ। उसमें पांच आदमियों का हिस्सा था सौ सवा सौ रुपया। मेरे पास आया तो मैंने कहा "मैं तो नहीं लूंगा।" "अरे पागल हो गया है ? सबका रुपया मरवाओगे।" इसी तरह रुपया लूटा जाता है रियासतों का। तो उसने लिख दिया···'मेरे ख़्याल से यह मुनासिब क़ीमत है। सामान दे दिया जाय।'

इतना ही लिखा। अब जब हम वहां चरखारी में पहुँचे तो वहां नायब दीवान था। बड़े दीवान साहब तो दतिया गये थे और जो अफसर थे सरकारी रियासत के एकदम बिगड़ गये और एक दम लाल हो गये कि 'आप वहां पहुँचे गये ? ग़जब किया, आपने ? आप तो बड़े चालाक हैं ? ख़ैर, दीवान साहब अभी यहां नहीं हैं।' 'दीवान साहब कहा हैं ?' 'दतिया।' सो हम दतिया पहुँच गये। बस जाती थी। उनका लंच साथ था—बद्री प्रसाद और उन्हीं अहमुद्दीन का। जब वहां खबर गई तो कहा 'अरे, फिर आ गया फिदा हुसैन ?' अच्छी तरह जानते थे। वो मुरादाबाद में सिटी मजिस्ट्रेट रह चुके थे उस जमाने में। जब उन्होंने सुना कि बीस हजार रुपये में सामान ले रहा है तब वो बिगड़े। 'बनिये को बीस हजार दे रहे हो, हमको सात हजार रुपये नहीं दिये तुमने ?' बद्री प्रसाद बोले—'काहे को जल रहे हो यार ? हम भी चाहते हैं कि सामान जाय और बवाल छूटे। रियासत का पीछा छूटे।' दीवान साहब चाहते थे कि फिर कोई राजा इसमें न फँसे। वहां से उन्होंने ऑर्डर दिया कि इसको पूरा सामान

दिया जाय, सब कुछ। और कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। हमको तो मरवाने के लिए तैयार थे वो लोग कि कोई सूरत से इसका मर्डर करवा दें, चरखारी में। सामान जब निकलवाया है तो ये हालत थी कि सामान निकलवाता जा रहा था और देखता जा रहा था कि या ख़ुदा। कपड़ा जो था पर्दे का और विंग्स का वो मिल से स्पेशल ऑर्डर देकर बनवाया गया था। जो आम कपड़ा इस्तेमाल होता है, वह कपड़ा नहीं था। स्पेशल कपड़ा बनवाया गया था वहां से मारकीन। लकड़ी वो इस्तेमाल हुई है सब जो बर्मा से आती थी। टूटे नहीं वो जो लचक भी खाये तो। और ड्रेस तो··· इतना ड्रेस था कि आठ कम्पनियां बन सकती थीं एक कम्पनी से। अब वैगन उस जमाने में मिलता नहीं था। रेलवे का डी० टी० एस० साफ़ इन्कार कर गया। दो हज़ार रुपये रिश्वत देना चाहा। तब भी वैगन नहीं मिला। तो साहब, दस ट्रकों में भरकर सामान लाये। अब उसमें कितना रुपया लगा होगा चरखारी से देहली सामान जाने में सोचिए। ट्रकों से सामान लाये। सामान भी इतना था कि देहली की पब्लिक देखकर दंग रही गयी। सामान वग़ैरह सब जुटाकर श्री मोहन थियेटर कम्पनी बनायी। उसका 'भरत मिलाप' ड्रामा निकला। उसमें एक सीन अयोध्या का बनाया। जब राम बन को जाते हैं तो पुल के ऊपर से रथ गुज़रता है। और पुल के नीचे तमाम आदमी हैं। वो सीन इतना अच्छा था कि देहली की पब्लिक देखकर दंग रह गई, कुछ पूछिए मत। पांच-पांच हजार कैन्डल पावर की लाइट और लैंप लाए थे। थियेटर में कहां होती। दोनों तरफ से रंग-बिरंगी लाइट डाली जाती थी उसके ऊपर और रथ पास होता तो पब्लिक देखती रह जाती थी। कहती थी कि ऐसा अनुभव आज तक नहीं हुआ। रोशन लाल जी ने नरसी मेहता रोक दिया था इनजंकशन निकलवा करके। उसके लिए बड़ा झगड़ा हुआ। इनजंक्शन निकलवाया कि नरसी मेहता यह न करे। हम उनको दे चुके थे नरसी का ड्रामा। तो केस हुआ। इंग्रेज जज था। तवकली साहब हमारे वकील थे और नूरुद्दीन जो मेयर भी था और बैरिस्टर भी था वह उनकी ओर से वकील था। तो साहब, वहां बहस हुई। तवकली साहब ने बहस की। उस बहस का नतीजा यह निकला कि जज ने जजमेंट में लिखा कि—'सब कुछ देखने और सुनने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ड्रामे की कोई अहमियत नहीं है, आर्टिस्ट की अहमियत है। जहां आर्टिस्ट होगा, वहीं ड्रामा चलता है। इसके बग़ैर ड्रामा किया तो चला नहीं।' सही चीज़ है। तो उसने अपने जजमेंट में लिखा कि आर्टिस्ट की वजह से ड्रामा चलता है इसलिए 'आर्टिस्ट को हक़ है इस ड्रामे को चलाने का।'

'तीन महीना भरत मिलाप ख़ूब चला। रुपया ख़ूब आया। इतने में इन्दरगढ़ के महाराज साहब आये खेल देखने के लिये इन्दरगढ़ से। पीछे शामियाना लगाकर उनके बैठने का इन्तज़ाम था। लेकिन शर्त थी कि आप किसी ऐक्टर से नहीं मिलेंगे। हमको ख़तरा था कि ये राजा लोग हैं, इनका क्या। तो ड्रामा देखने आये। स्विस

होटल में वो ठहरे थे नीचे। ऊपर उसी होटल में हुस्न बानो ठहरी थी जिसको बम्बई से लेकर आये थे और जो हिरोइन थी बम्बई में फिल्मों में। शरीफा की लड़की। बड़ी ख़ूबसूरत थी वो लड़की। सीता का पार्ट कर रही थी। छोटा सा पार्ट था। भरत मिलाप में ज़्यादा रोल नहीं था उसका। तो उसको मैं तीन हज़ार रुपया तनख्वाह महीने की और एक हज़ार रुपया स्विस होटल का ठहरने का चार हज़ार रुपया महीने में करके लाये और वो इसलिये पब्लिक उसकी फिल्म की आशिक़ थी। हुस्न बानो का बड़ा नाम था। अब्दुल रहमान क़ाबुली उसमें दशरथ था। तो राजा साहब उस पर फ़िदा हो गये। और दूसरे रोज हमको होटल में बुलवा लिया। होटल में वो बैठे हुए हैं सोफे पर और दीवान बैठे हुए हैं, उनके सेक्रेटरी हैं और कुमार सिंह और फलाने सिंह—उनके बॉडीगार्ड। सब साफा बांधे हुए खड़े हैं सोफे के पीछे। रिवाल्वर लगी हुई है। 'आइए मास्टरजी ··आइए, आइए।' बहुत मानता था। एक दीक्षित था फिल्म के अन्दर, बहुत मोटा ताज़ा, बिलकुल ऐसा ही वह राजा था। "आप ने ड्रामा बहुत अच्छा किया। हमको पसन्द आया। मास्टरजी आपने तो कमाल कर दिया।" 'मेहरबानी।' पन्नालालजी प्राइवेट सेक्रेटरी थे, मिलिटरी सेक्रेटरी कोई और था। पन्नालाल सेक्रेटरी भी थे और रानी से उनका ताल्लुक़ भी था। रानी शाम को पीना शुरू करती थी—नरसिंहगढ़ की लड़की थी, दो बोतल शराब पीती थी पूरी। वहां की कोई भी तेज़ शराब अनार की, अदरख की सब। और रात को··· गाना सुनती थी डफ के ऊपर। रात को मरफिया का फुल डोज़ इन्जेक्शन दिया जाता था तब सोती थी वो। राजाओं की सब बातें ही निराली होती हैं। तौबा। तो पन्नालालजी बोले—'मास्टरजी दरबार की इच्छा है हुस्नबानो से मुलाक़ात करने की।' मास्टरजी इससे बहुत दूर थे। मशहूर था कि इस मामले में—मतलब सही बात भी है ये चीज़ बहुत ख़राब है। यह बात सुनने में आई तो एकदम ज़मीन पैर तले से निकल गई। 'आप क्या चाहते हैं?' दरबार को सबर नहीं हुआ। 'हम चाहते हैं कि आपके थ्रू मुलाक़ात होनी चाहिए।' वो राजा था। उसका इतना लिहाज नहीं रहा कि हम इसको···। वैसे इतना मानते थे मास्टर फिदा हुसैन को कि क्या कहूं। एक बार रियासत में बुलाया। राजा के सामने बिना साफा के कोई नहीं जा सकता था। पर हमने कहा, हम तो साफा नहीं बांध सकते। तो मेरी इतनी इज्ज़त करता था कि मुझे बिना साफा के ही जाने की इजाज़त मिली और हम साफे के बग़ैर गये। तो इतना लिहाज करता था वहां पर यहां मुझको कहता है कि 'आप के थ्रू मुलाक़ात होनी चाहिए।' तो बस फ़ौरन ही हमारा दिमाग़ फिर गया। गुस्सा बहुत आ गया। लेकिन राजा था, क्या करते। हमने कहा ·· 'देखिए दरबार, यह हमारा क़ानून नहीं है। हमसे नहीं हो सकता।' और इतना सुनना था कि 'कैसे नहीं हो सकता? हम इतना रुपया लगायें तो क्या हमें यह हक नहीं है? राजा हूं। बदतमीज़ कहीं का।' तो हमने कहा—'ठीक है जो इस काम के आदी

होंगे उनको बुलवा लीजिए।' ठीक है। तब माणिकलाल को बुला लेंगे। वो हमको हर तरह की सहूलियत देगा।' मैंने कहा 'ठीक है।'—'लेकिन यह बहुत ग़लत बात है हमारा इतना रुपया लगा, हमको इतना कबूल नहीं करोगे ? इतना दिमाग़ ?' इतना सुनने के बाद हम खड़े हो गये और कहा—'देखिये दरबार।' हमने इतनी आवाज़ में कहा देखिए दरबार' तो दीवान और दूसरे सब भी जो थे सब इशारे से मना करने लगे पर मैंने कहा 'कोई नहीं बोलेगा।' देहली के अन्दर मैं डरने वाला नहीं था, पूरा शहर मेरे साथ में था। पूरा अमला, कचहरी, मैजिस्ट्रेट सब हमारे आशिक थे नरसी मेहता के। तवकली साहब ख़ास करके। राजा-वाजा की कोई हक़ीक़त नहीं थी उनके आगे। राजा को उन्होंने गद्दी पर पास से दस हजार रुपये ख़र्च करके बैठाया था। मैं खड़ा हुआ। मैंने कहा—'देखिए दरबार। साफ-साफ़ बात है। आपकी पहाड़ जितनी इज्जत है, मेरी नाखून जितनी है। आप अपनी इज्जत सम्हालियेगा मैं अपनी सम्हालूंगा।' कहकर चला आया। जाते के साथ नोटिस लिखवा करके, टाइप करवाकर फौरन टेलिग्राम से भेज दिया कि मैं काम नहीं करूँगा। वो भी चाहते थे कि झमेला ख़त्म हो नहीं तो तफ़रीह कैसे होगी। तो माणिकलाल को बुलवा लिया। और इस तरह श्री मोहन थियेटर कम्पनी से मेरा डेरा कूच हुआ।

इधर मुझे जगत नारायण डिस्ट्रीब्यूटर समझा रहे थे कि 'छोड़ थियेटर का पीछा, चल मेरे साथ।' उनके कहने पर हम बम्बई चले आये। रणजीत कम्पनी में चन्दूलाल शाह को हमारा हाथ थमा दिया। कहा कि 'यह मेरा भाई है।' हम पांच सौ रुपये महीने पर परमानेन्ट नौकर हो गये। लेकिन जब पिक्चर का नम्बर आया तो उसमें कॉमेडी रोल था। मैंने कहा 'मुझे तो नहीं करना है।' तो बोले 'आप रहिए परमानेन्ट। जब दूसरा पिक्चर बनेगा तो···'मैंने कहा' 'नहीं मैं ऐसे नहीं रहूंगा।' मतलब इस तरह की बातें होती ही रहती थीं। फिर तो कुछ ही रोज़ गुज़रे बम्बई में। उसके बाद एक महीना घर रहा आराम से। मेरे छोड़ने के बाद श्री मोहन कम्पनी देहरादून गयी। इतने दिन में चालीस हज़ार रुपया रियासत का बर्बाद हो गया। कुछ माणिक लाल ने खींचा। कुछ सुलताना ने खींचा। इस तरह से अब वो घबड़ा गये और वो तफ़रीह-वफ़रीह भी नहीं हो सकी। चालाक था माणिकलाल, सुलताना थी उसमें। अब फिर तवकली साहब के पास पहुँच गये रोते हुए राजा साहब। दरियागंज में उनकी कोठी है अपनी रूपकुंज। थाने के पीछे। बड़ी कोठी है। वहाँ पहुँच गये। 'मास्टर फिदा हुसैन को बुलवा लीजिये।' तवकली साहब बोले 'नहीं दरबार, फिदा हुसैन ऐसा आदमी नहीं है।' बोले 'नहीं, जो भी शर्त होगी हम सब·····।' शर्त का मतलब यह कि चलिए बम्बई। तवकली साहब को लेकर पूरा क़ाफ़िला ताजमहल होटल पहुँचा। बिरजी सिंह के साथ में मैं रहता था। वहां ख़बर मिली कि दरबार और तवकली साहब आये हैं। तवकली साहब का नाम सुनकरके मुझको जाना पड़ा।

वैसे मैं उनकी शक्ल भी नहीं देखना चाहता था। जो वहां गये तो देखा राजा साहब बैठे हुए थे। बोले 'मास्टरजी, हम अपने लफ़्ज़ वापिस लेते हैं।' तो तवकली साहब बोले 'भाई फिदा हुसैन, दरबार ने···कहाँ से कहां बोल रहे हैं। तुम सोच लो।'··· मैंने कहा···'ठीक है। फ़रमाइए।' बोले 'भाई कम्पनी बनाओ। कम्पनी वो बन्द है।' तो अब उसके कब्ज़े से कम्पनी कैसे निकले। वो मुश्किल। तो तवकली साहब बोले 'दरबार, वो मुझपर छोड़िये।' वकील थे। तो साहब यह तै हो गया। तवकली साहब ने हमको मुफ़्त का आठ हजार रुपया नगद दिलवा दिया। कहने लगे—'फिदा हुसैन का इतना नुक़सान हुआ है। इसको तनख्वाह दीजिए इतनी और इसको जुर्माना समझिये—कुछ समझिए इतना ख़र्चा दीजिये। कम्पनी कहां बनायेगा?' मुझे कम्पनी बनानी नहीं थी। मैंने कहा 'कलकत्ते में बनाऊँगा।' बोले—'इन्दौर में बनाइये।' 'मैंने कहा' नहीं साहब, चलेगी नहीं। पैसा आपका वापिस आयेगा कलकत्ते से। तो दीवान साहब, सेक्रेटरी साहब और बख्शी साहब जो इनके ख़जांची थे, सब लोग कलकत्ते आ गये और न्यू सिनेमा के बगल में बड़ा सा, बरामदे वाला···मिनर्वा होटल है न, उसी में ठहरे हम लोग। उसी में पूरा बैंच तलवार प्रोडक्शन का नयी पिक्चर बनाने के लिए ठहरा था। तो साहब, सात दिन तक धोखा देकर हमने ज़मीनें देखीं, दुर्गादास चमरिया से मिलवाया, उनकी जमीनें थीं। तो उनको यक़ीन हो गया कि कम्पनी बनेगी। सात दिन बाद वो चले गये। लॉयड्स बैंक का हमको चेक मिला था। वो रुपया तो मुफ़्त का मिल गया और यहां रहने के बाद तीन पिक्चरों में काम मिल गया। बेनू बाबू लाहिड़ी काननबाला को लेकर अरेबियन नाइट बना रहे थे। उसमें थोड़ा सा काम मिला। उसमें टाइटिल में अज़ान भरनी थी। वो चाहते थे कि कोई बहुत अच्छा अज़ान भरनेवाला हो। उसीसे पिक्चर शुरू होता है। उसमें कबूतर उड़कर जाते हैं उसके साथ अज़ान भरी और अज़ान भरने का उन्होंने हम को पांच सौ रुपया दिया। जब अज़ान भरी अरबी में····· इतने मस्त हो गये सब···वो स्ट्रीट का सीन था, लड़की नीलाम होती है उसका। उसकी भी मजे की कहानी सुनाऊँ आपको। अली बाबा का सेट पूरा लगा था। मैडन स्टूडियो की जो दीवार थी उसके ऊपर ही तमाम सेट फिट किया गया था मसजिद का, मीनार वग़ैरह का। जब वह शूटिंग ख़त्म हो गई और उसको तोड़ने लगे तो तमाम मुसलमान आ गये गांवों से। कहने लगे—"मसजिद तोड़ता है, मसजिद तोड़ता है"। क्या मुसीबत आ गयी। तब मैं मुसलमान और दो आदमी और नबाब कश्मीरी वग़ैरह ने कहा 'भाई, यह सेट लगा है, मसजिद नहीं है। तुम क्या बोलते हो?' बिचारे घबड़ा गये कि मसजिद तोड़ता है। तलवार प्रोडक्शन के 'टूटे सपने' पिक्चर में चीफ मेडिकल ऑफिसर का पार्ट मिला। बहुत अच्छा पार्ट था। एक और नाम नहीं याद आ रहा है। तीन पिक्चरों में काम मिला। चूंकि हिज़ मास्टर्स कम्पनी

में उनलोगों ने बहुत ताकीद की—'तुम थियेटर छोड़ दो, तुम्हारी आवाज़ ख़राब हो जायगी।' तो हमने कहा—'काम कहां है ? तो साहब ने कहा—'पिक्चर में हम काम दिलवायेंगे।' कपूर साहब थे। बोले 'हम काम दिलवायेंगे, तुम क्यों फिकर करते हो।' लेकिन थियेटर का शौक़ ऐसा था कि फिलिमविलिम कहां पसन्द आये फिदा हुसैन को। मरेगा या जियेगा, थियेटर में काम करेगा। तीन पिक्चरों में काम किया। उसके हमें क़रीब क़रीब दो हज़ार रुपये मिल गये। आठ हज़ार में और दो हज़ार आ गये। वो बढ़ गया। ख़ुश थे। इतने में साहब, लोगों ने घेर लिया। महफिलें हो रही थीं लाला श्री राम के यहां। लाला श्री राम हरीसन रोड में थे, उनका अपना ट्रस्ट था। शाम को पार्टी थी उनके, यहां जाना था। फिदा हुसैन मारवाड़ियों में बहुत मक़बूल था। सुरजी तवलावाले थे बहुत अच्छे थे। उन्हीं के यहां कोने में सीता बैठी हुई थी। एक दम गँवार, सीधी, हँसती भी नहीं। उनकी बातों में न कोई हिस्सा ले रही थी। बेचारी बैठी हुई थी सीधे से। शुभकरण ने मुझ से जिकर किया था कि 'भाई, हमारे एक दोस्त हैं, गौड़ बाबू। उनकी बीबी है वह एम० बी० बी० एस० के लिए आए हुए हैं ढाका से। वो भी आज शाम पार्टी में आ रहे हैं, तुम्हें मिलवा दूंगा।' शुभकरण ने इशारे से कहा—यही है। देखा, चेहरा बहुत ख़ूबसूरत है। सादे कपड़े पहने हुए बिलकुल। माने कोई तड़क-भड़क नहीं है। मैंने कहा 'गाना सुनवाओ।' तो ग़ज़ल सुनाई और ग़ज़ल ऐसी अच्छी सुनायी कि मेरे दिल पर छाप बैठ गयी। ग़ज़ल थी –

'हम तो ये सोच के हँसते हैं कि रोना होगा।'

आवाज़ इतनी मीठी, सुरीली·····टॉल फिगर लड़की। ख़ैर, उस समय तो इतने में बात ख़त्म हो गयी। उसके बाद फिर थियेटर कम्पनी का प्रोग्राम बना। फिल्म से फिर थियेटर में आया। सब ने मजबूर किया और हिन्दुस्तान थियेटर की बुनियाद पड़ी। सीता देवी को हमने लिया तीन सौ रुपये महीने पर। जब कम्पनी में लिया और रिहर्सल में पहले दिन आयी बेचारी और जो लोगों ने बातचीत करनी चाही—देहली का स्टाफ था, तमाम औरतें थीं—तो सर पीट लिया सब ने। हमको बुलाकर कहा—'ग़जब कर रहे हो मेरे शाहज़ादे ?' आगा भाई थे सब। 'अरे डूब जायगी कम्पनी आपकी अपनी बनायी इज्ज़त है। वो बोल नहीं सकती है। क्या ग़ज़ब करते हो।' बोल ही नहीं सकती थी बेचारी। सोचा मैंने। फिर महम्मद भाई से मैंने कहा 'देखो, मलका भी तवायफ़ थी, उसको तुमने चंदा बनाया। अब इसको भी सिखाओ।' बुड्ढे थे। सात ज़ुबान जानते थे। क़ाबिल आदमी थे। उनके घर पर भेजा और हिन्दी सीखना शुरू किया सीता ने। मगर ज़ेहन इतना अच्छा, दिमाग़ इतना तेज़ था सीता का कि जो पढ़ाया वो बिलकुल हिफ्ज़ करती चली गयी। जहाँ तक अंदाजा करता हूं कि कैरेक्टर अच्छा हो तो ज़ेहन पर बुरा असर नहीं पड़ता।

अगर आर्टिस्ट कैरेक्टर का अच्छा नहीं होता है, नशा-वशा करने वाला भी है तो दिमाग़ उसका अच्छा नहीं होता। उसका दिमाग़ ऐसा था कि बस पूछिए मत। आठ दिन के अन्दर इसने पार्ट याद कर लिया। फिर मेरे पर भी मुसीबत पड़ी। ये सीखने में इतनी तेज थी कि "मैं कहता था कि अब बस करो, मेरे खाने का टाइम हो गया" तो यही कहती 'ना, अभी हमको सिखाइए। पूरा करके जाइए।' 'अरे भाई खाने का टाइम·····" तो उसको खाने-पीने का रहम नहीं। इसे ही बंगाली हठ कहते हैं। दर असल उसको अपने पार्ट की फिकर थी, स्टेज पर निकलना है। इतनी फिकर अगर और ऐक्टर को हो तो बहुत कामयाब हो सकता है। मगर होती नहीं। सीखना नहीं चाहते। उसने सीखा और जब नाटक हुआ तो आगे सौ रुपया का टिकट था चार लाइन का, मिनर्वा में। चारों लाइन बुक हो गयी थी। पब्लिक टूट गयी थी। ख़ूब रुपया बरसा। तीन महीने तक नरसी मेहता ने दम नहीं लिया। यह नाटक मिनर्वा थियेटर में शुरू किया। उस समय पांच सौ रुपया नाइट का तो थियेटर का किराया देना पड़ता था। दिलवर हुसैन, गुप्ता बाबू, नंदी बाबू। सोचा असामी हाथ आया है, काहे को छोड़ें। हम दो दिन लेते थे—मंगल और शुक्र। उनका शो बन्द रहता था मगर पांच सौ रुपया लिया। तीन महीने तक चला, सन् १९४६ में। और जब तीन महीने के बाद दूसरा नाटक निकला तो ड्रामा पास हुआ मगर उसने पैसा नहीं दिया। ड्रामा था 'हमें क्या चाहिए'। तो फ़ौरन फिर 'कृष्ण-सुदामा' निकाला। उसमें सीता शारदा बनी और हम सुदामा बने। ख़ूब अच्छा चला। चौथे ड्रामे के पार्ट बांटे कि जिन्ना साहब आन करके सवार हो गये। कलकत्ते में जो क़त्ले-आम हुआ तो कम्पनी बन्द करनी पड़ी। कम्पनी बन्द हो गयी तो रुपया तो हमारे पास था ही। नशा था उस समय दिमाग़ पर रुपये का कि रुपया है क्या परवाह है। कोई फिकर ही नहीं थी। सब अपने-अपने घर गये। उसके बाद मैं चला गया। कमरा-वमरा रखा, घर चला गया। घर जा करके रुपया पास में था तो मैंने भी सोचा थियेटर बहुत दिन कर लिया, अब छोड़ो कुछ अपना काम करें। तो जंगलात के ठेके का, लकड़ी का काम किया। राजा साहब का फोकट का जो सामान लाया था दो वैगन भर कर उसमें ढेरों लकड़ी थी। उससे 'हलस' और पलंग का सेरवा और भैसागाड़ी में ऊपर पट्टी जो फिट होती है जिसमें रस्सी बुन कर लगाते हैं वो हमने सामान बनाया। इस काम में हमारे पार्टनर जो थे वहां की कमेटी के प्रेसिडेन्ट थे। बनवारी लाल। हम इतने उदार थे कि जो पहला वैगन बिका, दूसरा वैगन बिका, तीसरा वैगन बिका उनका सब पैसा उन्हें दे दिया—'आप अपना पैसा ले लीजिए पहले।' 'उन्होंने कहा—'आप भी लीजिए' तो मैंने कहा—'हम बाद में ले लेंगे'। हम तो उदार थे। पैसा उन्होंने ले लिया। अब हमारे सामान का नम्बर आया। दो वैगन भरकर के सामान रावलपिंडी में बिका था। सामान मोंटगोमारी में पहुँचा तो

वैगनों में आग लग गयी, सामान ख़त्म हो गया। वो मुफ्त का पैसा आठ हज़ार ख़त्म हुआ। साथ में मेरा भी दो हजार ले गया। राजा हो चाहे कोई, मेरी क़िस्मत में मुफ़्त का पैसा नहीं लिखा है।

'फिर तो रामनगर में रहे। रामनगर में जंगलात के पूरे महकमे में जितनी पुलिस की सीट है उतनी ही जंगलात में है। वहां सिपाही है वो फॉरेस्टर है, हेड कांस्टेबल है वो फॉरेस्ट गार्ड है। रखवाली करने वाले। जो सब-इन्सपेक्टर है पुलिस में डेपुटी रेंजर है और जो इनचार्ज है थाने का वो वहां रेंजर है। उसके बाद कप्तान पुलिस समझ लीजिए चाहे डी. एम. समझ लीजिए तो वो डी. एम. ओ. की पोस्ट का है। डी. आई. जी. है तो वो कनसर्वेटर है। उसके बाद इन्सपेक्टर जनरल डी. आई. जी. पुलिस चोफ कनसलवेटर। रामनगर मण्डी में बहुत लोगों की आबादी है। होली के ऊपर हमारे भी दिमाग़ में कुछ कीड़ा चला कि इनको भी कुछ · तो वहां क्लब था एक। रामलीला करता था। हमने कहा कि 'ड्रामा क्यों नहीं करते हो ?' तो वहां हमने जो डाइरेक्शन दे कर के ड्रामा किया तो पूरे रामनगर की हिन्दू पब्लिक हमारी मुरीद हो गयी। डी० ए० ओ० और उसकी फेमिली···यह कह कर मुझे ले गये कि मेरी कोठी पर खाना पड़ेगा। कनसलवेटर आया था वहां चतुर्वेदी। वो सीधे मेरे झोपड़े पर आकर के मुझे···वो ग़ज़ल सुनने का शौक़ीन था। वहां जो ठेकेदार थे वो बोले—'साला, ये कौन आ गया है राम नगर में जो डी० एम० ओ० तक उसकी ख़िदमत में लगे हुए हैं ?' इतने में वो सामान सब जला, नुक़सान हुआ, हमारी बधिया बैठ गई। जो बचा हुआ था उसके वैगन के लिए नैनीताल गए। नैनीताल में हम ताल से निकल कर जा रहे हैं तो देखा—एक रिकार्ड की दुकान है नैनीताल में। ताल के पास ही उस दुकान में घुसे हुए हैं राजा इन्दरगढ़। और उनका पूरा क़ाफिला साथ में है। देखा तो 'अरे मास्टरजी जा रहे हैं, मास्टरजी जा रहे हैं।' हमें बुलवा लिया। बोले—'हम तो हमेशा मसूरी जाते हैं। अब की सब ने कहा तो यहां आये। मगर यहां जानकर दिल बोर हो रहा है क्योंकि मसूरी में कोई गवर्नमेन्ट ऑफिसर नहीं। नैनीताल में गवर्नर भी, डी० एम० भी। सब यहां पर। राजा लोग यहां नहीं आते थे। मसूरी जाते थे तफरीह करने के लिए। वहां कोई पूछने वाला नहीं रहता था। यहां तो डरते थे बेचारे। उन्होंने कोठी ली थी दो महीने भी रहिए तब भी साल भर रहिए तब भी किराया साल भर का ही देना पड़ेगा। नैनीताल में भी, मसूरी में भी। उन्होंने बहुत ऊँचे पर कोठी ली थी। इतना चढ़े कौन तो वो डांडी से ऊपर जाते थे। ले गये कोठी, सामान हमारा मंगवाया। हम डी० एफ० के साथ ठहरे हुए थे—जौहरी साहब के पास। उन्होंने सामान हमारा मंगवा लिया वहां से। तो वहां गाना, कलाम-वलाम चला।

वहीं टेलिग्राम आया कि 'करांची में थियेटर कम्पनी बन रही है, सिंधी लोग बना रहे हैं, डाइरेक्टर के लिए आपको लेने के लिए आदमी जा रहे हैं।' हमें क्या हम करांची चले गये। एक हज़ार रुपया वो हमको देकर गये कि आइये। 'देहली से' स्टाफ गया था। करांची में कम्पनी स्टार्ट हुई। तीन महीने कम्पनी खूब ज़ोर-शोर से चली। इतने में वहां भी पाकिस्तान बनने के बाद झमेला शुरू हुआ। हम फिर बॉम्बे आ गये मार्टिन कम्पनी के शेयर थे हमारे पास और हिज़ मास्टर्स कम्पनी के रॉयल्टी के रुपये थे तो हमने कहा—'रुपये तो ले लें इनसे घर जाने के पहले।' डी० एफ का खत आ चुका था मेरे पास करांची में कि 'आप कुछ फिकर मत कीजिये। आप आ जाइए. हम काम करवा देंगे आप का।' इतने बड़े आदमी जब कह रहे हैं तो·····। हम आये थे कलकत्ता कि रॉयल्टी के रुपये ले लें, मार्टिन कम्पनी के शेयर बेच दें। वो रुपया हमने लिया और इतने में तो फिर थियेटर में घुस गये। 'झांसी की रानी' निकल चुका था। वहां पर हमारे जाते ही सब ने हाथों-हाथ ले लिया। हम कलकत्ता आ गए। जैकरिया स्ट्रीट वाला मन्दिर टूटा पड़ा था। दुर्गादास का ड्रामा जो निकला वो हमने इसके लिए दिया तो इसमें बहुत रुपया इकट्ठा हुआ। मन्दिर बनवाया, बहुत नाम हुआ हिन्दुओं में। मंगतूराम जैपुरिया बोले सभा करके कि 'महमूद ग़जनवी मन्दिर तोड़ने के लिए आया था हिन्दुस्तान में, फिदा हुसैन बनवाने के लिए आया है।' बिचारे बहुत मानते थे। उसके बाद तो फिर 'भगतसिंह' निकला। 'भगतसिंह' बहुत पास हुआ। खूब सामान भी था। सब मैनेजमेंट गौड़ बाबू के जिम्मे था। पूरा असेम्बली का सीन। विपिन बाबू सैंडर्स बने थे उसमें। सैन्डर्स का सीन। बहुत सामान बनवाया था गौड़ बाबू ने। वह सब हुआ 'मिनर्वा थियेटर' के नाम से। अब पार्टनरशिप हो गई थी बंगला कम्पनी के साथ। पुरानी हिन्दुस्तान थियेटर कम्पनी मिल गयी उस कम्पनी के साथ। मेरे पीछे ही चालू हो गयी थी तो उसके बाद हमारा मामला कुछ गड़बड़ हुआ। इसी समय गौड़ बाबू से और सीता से झगड़ा हो गया। हमने नोटिस दे दिया और अलग हो गये। देहली से पार्टी हमको लेने को आ गयी थी, पांच हज़ार रुपया पगड़ी दे करके। कहा 'ये पगड़ी हैं, तनख़्वाह अलग। आप चलिए।' लेकिन इतने में···वो बात हम आप को सुना रहे हैं जिसके लिए इतनी दास्तान सुनानी पड़ी है। मैं कलकत्ता छोड़कर देहली जाने को तैयार हुआ ही था कि गोबर्धन बाबू को मालूम हुआ कि फिदा हुसैन ने कम्पनी छोड़ दी है। फौरन कमरे पे भेजा गोरा बाजपेयी को कि जाओ मास्टरजी को बुलाकर लाओ। हम गये तो वे तसवीरें देख रहे थे। मेरे मुंह से ग़लत लफ़्ज निकल गया था उस ज़माने में कि न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। हमने उनको कह दिया था। अब जो हम गये तो बोले—'आइये मास्टरजी, कैसे हैं? देखिये आपने हमको कहा था कि न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। हम अठारह मन तेल जमा किये बैठे हैं।' मूनलाइट बनकर फिर बन्द हुई, फिर रायट हो गया था। तो कानपुर में एक कम्पनी

सरस्वती कम्पनी भी थी वहां चला गया। सीता भी गयी। हमारा उसका झगड़ा था, मेल हो गया। मिल करके फिर सीता को लेकर के कानपुर ६ महीने रहे। फिर बॉम्बे पहुँचे फिल्म में काम करने। वहां हमारा हिसाब नहीं बैठा, वह क़िस्सा अलग से सुनायेंगे। फिर कलकत्ते आ गये, फिर मूनलाइट ज्वायन कर लिया। चौबीस साल मूनलाइट चली, बीस साल मैंने चलाया। लम्बा किस्सा है मूनलाइट का वह कल सुनाऊँगा।'

अगले दिन फिदा हुसैन बड़े मूड में थे। हम कुछ कहें-पूछें इसके पहले ही वे बोले—"आप लोगों ने तो मुझे अच्छा फंसा दिया। अब तो रात-दिन ये पुरानी बातें ही दिमाग़ में घूम रही हैं। रात में लेटा तो न जाने कितनी देर तक फिल्म के चित्र की तरह आँखों के सामने चलती रहीं ये बातें। इसलिए कलकत्ता आकर मूनलाइट थियेटर में काम करने की बात बतलाने से पहले एक वाक़या सुनाऊँ आप लोगों को। बड़ा मज़ेदार है। हम लोग एक बार फ्रंटियर गये। वहां डाका पड़ा, मतलब डाकुओं ने घेर लिया। दिन में बुकिंग आफिस में आये। हम रुपये गिन रहे थे इत्तफ़ाक़ से सो मेरे सीने पर रखा पिस्तौल। हाथ पिस्तौल के घोड़े पर। मेरा तो बुरा हाल, पसीना आ गया। हम बोले—'फिदा हुसैन'''।' बीच में ही रोक दिया—'हम जानता है। चुपचाप बैठे रहो।' और रुपया ले-देकर चल दिये। असल में ठेकेदार ने उन्हें नाटक देखने का पास नहीं दिया था। तीन स्टेशनों का ठीका लिया था सो यह हरकत की। पर ठेकेदार को भी ग़ुस्सा आ गया। उसने पुलिस में खबर कर दी और पुलिस ने उन बदमाशों को घेर लिया। सो शाम को खबर भेजी कि फिदा हुसैन को बुलाओ मिलने के लिए। हमारी तो जान ही निकल गयी एक दम। पुलिस ने उनका एक आदमी पकड़ लिया था। मतलब मुख़्तसर में यह कि हमको वो ले गये क़िस्सा-खानी बाज़ार में। सईद अकबर थियेटर का पठान दरबान था। वह बोला 'आप डरिये मत। उसने क़ौल दिया है कि आपको कोई आंच नहीं आएगी। पठान का क़ौल है।' गये पर दिल के अन्दर से डरता था। एक चारखाना था खपरैल में। उसके अन्दर एक खिड़की थी। उसके अन्दर जब गये तो देखा—बहुत बड़ा मकान था। बड़ी-बड़ी दीवारें, पिस्तौल टंगी हुई थी, बन्दूकें टंगी हुई थीं। एक कोने में गोबर की तरह चरस का ढेर था। चिलमें भरी जा रही हैं चरस की और ढोलें बज रही हैं। गये तो दिल धड़-धड़ कर रहा था। सरदार के पास बैठे जाकर पलँग पर। वह बोला—"फिदा हुसैन, हम

लोग ६ महीना डाका डालता है हिन्दुस्तान में और चैन से ६ महीना रहता है। पुलिस ने हमारा एक आदमी पकड़ा है। पुलिस से हम लोग भी घबराता है। तो तुम को शिनाख़्त के लिए बुलाएगा। अगर तुम शिनाख़्त नहीं करोगे तो हम ज़िन्दगी भर तुम्हारा दोस्त बनकर रहेगा। कभी हम को याद करना। और अगर शिनाख़्त किया तो तुम को ही नहीं तुम्हारी बीबी तक को उठा ले आयेगा पलँग समेत।'' / कज्जन को वो मेरी बीबी समझते थे।/ हम ने कहा—'नहीं पहचानूंगा।' तो जितना रुपया ले गये थे सब वैसे ही गठरी बांधकर लौटा दिया। चाय मंगाई। अब पुलिस का जो इंचार्ज था शाहजी—अफरीदी था—बोला, 'चलो फिदा हुसैन, पहचानो उसको।' मुसीबत में जान। मैंने पहले ही कज्जन से कहा था—'हम किस आफ़त में आ गये। मैडम, कोई सूरत से हमारी जान बचाओ।' वह हँसे कम्बख़्त। उसको तो जाना नहीं था, जाना मुझे था। 'मिस्टर, काहे के लिए डरते हो, जाओ न।' मैंने कहा—'तुम आओ न, काहे के लिए डरते हो कहती हो तो।' ख़ैर नतीजा यह हुआ कि वो ले गया अपने साथ। धौंस से कहा—'नहीं चलेगा तो जेल में डाल दूंगा।' बड़ा लम्ब-तड़ग था वो। गया। वहां का ज्युडिशियल मजिस्ट्रेट था, वडेरा। नमाज़ पढ़कर निकला। तसबीह हाथ में। वो साथ-साथ आगे और पीछे इन्सपेक्टर के साथ में मैं। वो सब लाइन से बैठे हुए थे। उनमें एक आदमी के दाढ़ी थी। उसने दाढ़ी और सर दोनों मुड़वा दिया था। अब वो बैठा लाइन के अन्दर। मैंने उसे देख लिया। अगर पहचानता हूं तो वही सुदामा वाली हालत—'न जाने में घर की अनवन और जाने में मानहानि'। मुसीबत है। मुझसे बोला—'पहचान, देख इनमें है।' फिदा हुसैन मास्टर ने देखा। 'इनमें नहीं है।' 'देख—देख, मैं तुझसे कहता हूं। तुझे जेल में डलवा दूंगा अगर तूने ऐसा धोखा दिया तो।' एक दफ़ा और फेरा किया, नहीं पहचाना। तीसरे में भी जब नहीं पहचाना तो उसने धौंस दिया पर मजिस्ट्रेट ने डांट दिया। 'नहीं पहचानता तो काहे को धौंस देते हो।' सो वो छूट गया। मजिस्ट्रेट तो मजिस्ट्रेट था। नहीं पहचाना, जान बची। बड़ी मुसीबत थी। पिस्तौल रखा छाती पर उस वक़्त ऐसी हालत थी कि कपड़ा खराब हो जाये। रीयली, मैं सच कह रहा हूं। फ़ालतू शेख़ी मारने की क्या ज़रूरत है। पिस्तौल सामने रख दिया। उसका साथी टेलीफोन पर खड़ा हुआ है. तांगे दो तैयार खड़े हैं, दरवाज़े पर पिस्तौल लिये। दो-दो आदमी भीतर आए—ले गये लूट कर। ख़ैर, ऐसे बहुत वाक़ये हैं। कहां तक सुनाऊँ। छोड़िए इन्हें। आप लोग मूनलाइट के बारे में जानना चाहते हैं चलिए, वही बतलाऊँ।''

पर फिदा हुसैन साहब ज़रा देर के लिए चुप हो गये। लग रहा था जैसे मूनलाइट की बात शुरू करने के पहले कुछ और उनके मन में घूम रहा था जिसे वे कहना चाह रहे थे। हमने भी उन्हें डिस्टर्ब नहीं किया। दो चार मिनट मौन में

बीता। फिर हमने धीरे से कहा—'कलकत्ता पहुँचने की कोई जल्दी नहीं है। आप जहां हैं वहीं की बातें कीजिए, हम धीरे-धीरे ठीक समय पर कलकत्ता पहुँच जायेंगे।' वे हंस पड़े। हम भी। ठहराव दूर हुआ। बोले—"देखिए न, ५० साल थियेटर में काम किया। न्यू एलफ्रेड से शुरू किया, बारह साल वहां काम किया। उसके बाद एलफ्रेड में रहा। एलफ्रेड में यूं रहा कि अजमेर में एक छोटी सी कम्पनी बनी थी। जो सीज़र सिगरेट है उसका इंडिया का एजेंट था बख्शी इलाही, जिसका कलकत्ता के कोलूटोला में मुसाफिरखाना बना हुआ है बहुत बड़ा। यह जो करनानी मैनशन है उसी का था। पार्क स्ट्रीट के चौरंगी मोड़ से लेकर करनानी मैनशन तक जितनी जगह है सब बख्शी इलाही की थी। सब बाद में करनानी के पास आयी। वो एक मामूली आदमी थे। सीज़र्स सिगरेट सबसे अच्छा चलता था उन दिनों। उसका मालिक था अंग्रेज। वह बख्शी इलाही की खिदमत से खुश हुआ और जब इंग्लैंड गया तो इनको एजेंसी दे गया। उस एजेंसी में इन्होंने लाखों रुपये कमाये। सीराज़ बिल्डिंग जो कोलूटोले में है, बहुत बड़ी बिल्डिंग है, वह इन्हीं की थी। इनकी एक तवायफ़ थी जो देहली में थी। उस तवायफ़ के भाई ने कम्पनी बनायी थी। मैं न्यू एलफ्रेड बन्द होने के बाद फिल्म में लाहौर में टिका था लेकिन वह कम्पनी नहीं चली। पिक्चर फेल हो गया तो मैं वहां से मुरादाबाद आ गया। घर आने के बाद अभी तीन ही दिन हुए थे कि अजमेर से टेलिग्राम आया—आप फ़ौरन आ जाइए। टेलिग्राम मेरे दोस्त का। शफ़ीक़ नाम था उसका। पैसेवाले आदमी थे। हां तो वह तवायफ़ शेवरलेट में निकलती थी देहली के अन्दर, दस बीस लाख रुपये दे दिये होंगे। कहते हैं इतनी बड़ी-बड़ी सोने की ईंटें उसके पास सैकड़ों थीं, जब भी ज़रूरत होती थी वो सोने की ईंटें रखकर रुपये लेकर खर्च करती थी। तो अजमेर गया। उर्स होता है न, अभी चल रहा था। उस कम्पनी में गया। एक दिन के बाद कम्पनी का सफ़र था। वहाँ से जाबरा नवाब ने बुलवाया था। जाबरा गयी कम्पनी। पर दो दिन जो मजनू का पार्ट किया तो नवाब साहब ने फ़रमाइश की 'ख़ूबसूरत बला' की। वहां पर मैंने 'ख़ूबसूरत बला' किया। बहुत ख़ुश हुए और मुझको एक मेडल उनकी तरफ़ से मिला। उसके बाद रतलाम कम्पनी गयी। रतलाम में राजा ने बुलाया था। उन नवाब और राजा का इतना मेल था कि दोनों एक टाइम का खाना साथ ही खाते थे। जाबरा और रतलाम में फ़ासला थोड़ा था, क़रीब ही थे दोनों। खैर, रतलाम से कम्पनी का जो माहौल बना वह मुझे पसंद नहीं आया। कहाँ न्यू एलफ्रेड कम्पनी और कहां वो सब पंजाबी ऐक्टर और वो सब भी थे ऐसे ही ऐरे-गैरे। पसन्द नहीं आया। मैडन की अलफ्रेड कम्पनी, मुन्नी बाई वाली, इन्दौर में थी। सीधा वहां से इन्दौर चला गया। इन्दौर में गया तो दिनशा जी ईरानी थे, मणीलाल मूधर थे—ये सब जान-पहचान के थे। वहां बातचीत हुई और मेरा वहां सेटल हो गया। इंन्दौर से सीधे

कम्पनी को अपने रिस्क के ऊपर ले गया नौचन्दी। उन दिनों मैनेजर और डाइरेक्टर जो होते थे, उन्हीं को पूरा पावर होता था। उस कम्पनी के डाइरेक्टर थे मेहरजी सर्वेस, मैडन के लड़के और जहांगीरजी के ससुर। मैनेजर थे दिनशाजी आंटिया—पारसी। अड़े खां साहब थे असिस्टेंट। मैंने उनको कहा—'मेरठ की नौचंदी में चलिए देहली से।' उन्होंने कहा कि 'मेले में?' पर मेरठ की नौचंदी में कम्पनी गयी तो इतना पैसा कमाया कि जो तनख्वाह रुकी हुई थी, सब दे दी गयी। आप लोगों को शायद न मालूम हो, मेरठ का नौचंदी का मेला बड़ा प्रसिद्ध है। मेला होता है, प्रदर्शनी होती है। यह हिन्दू-मुसलमान दोनों का है। चंडी देवी का मंदिर है और नौचंदी एक मज़ार है। चंडी देवी और उर्स का मेला दोनों एक साथ पड़ता है। यह एक मिसाल है हिन्दुस्तान में कि दोनों एक साथ मिलकर यह मेला करते हैं। बहुत ज़बरदस्त, बहुत बड़ा मेला होता है। दो-दो चार-चार कम्पनियां, दो-दो चार-चार सरकस, फिल्म, टेम्पररी सिनेमा। यू० पी० भर से तमाम लोग नुमाइश देखने के लिए आते हैं। वहां खूब पैसा कमाया। वहां से मैंने उनको सलाह दी कि आप मुरादाबाद चलिए। तो मुरादाबाद कम्पनी गयी। मुरादाबाद में 'सीता' 'नागपुत्र' 'शालिवाहन', 'दिल की प्यास' और 'गणेश जन्म' नाटक किया। इतना सामान देख कर मुरादाबाद की पब्लिक तो मुग्ध हो गयी। बीस रोज़ तक भरपूर इनकम हुई। इतने में मुहर्रम आ गया। रामपुर में और मुरादाबाद में मुहर्रम सात दिन तक रहता है। सात दिन तक कोई सिनेमा नहीं चलता। रामपुर में तो नवाब का राज्य था। लेकिन मुरादाबाद में भी ऐसा था, पहले से ही। कम्पनी शो बन्द नहीं करना चाहती थी। इससे कुछ बादरेशन हुई। तो वो खां साहब जो थे—असिस्टेंट मैनेजर, उन्हें यह शक हो गया कि यह जो बादरेशन हो गयी शहर में, लोगों ने कहा कि कंपनी को आग लगा देंगे या और सब, इसमें फिदा हुसैन का गोया हाथ है। मुझसे वो कुछ खार खा गये थे। उनके दो चमचे थे। एक थे भोला नागर सिंधी और एक मास्टर गामा। बहुत अच्छे गवैये। नामी हैं। उन दोनों आदमियों को मुझसे, मेरी आवाज़ और मेरे काम से ज़लन थी। वो खां साहब के बहुत करीब थे। इन लोगोंने ये दिल में बैठा दिया मैनेजर के और डाइरेक्टर के कि जो कलक्टर का आर्डर आया है कि शो बंद कीजिए नहीं तो शहर में दंगा हो जायेगा तो यह सब इसी ने करवाया है। मैं तो बेक़सूर···। कम्पनी का वहां से सफ़र बरेली के लिए है और मुझे ऐट ए टाइम बुला करके हिसाब दे दिया जाता है। मेरा कोई क़सूर नहीं, कोई बात नही। मैंने कहा कि—'सलाम। मेरा तो कोई क़सूर नहीं था।' तो वो तो मुक़द्दर की बात है कि उस कम्पनी का बरेली से जो बुरा वक़्त शुरू हुआ सो वो तो कलकत्ते आकर दम तोड़ गयी और मेरा अच्छा वक़्त आया कि मैं कलकत्ते आ गया और कहां से कहां पहुंच गया। बस यह तो होने वाली बात है। वो जगह, जहां मेरा

कोई जान-पहचान का नहीं था वहां मैं जम गया। मैं कभी कलकत्ते नहीं आया था। रंगून कम्पनी गयी, लंका गयी लेकिन कलकत्ता कभी नहीं आयी। उन दिनों सब सिनेमा हॉल मैडन के थे तो वे हिस्सा मांगते थे और न्यू एलफ्रेड को हिस्सा देना नहीं था। न्यू एलफ्रेड कम्पनी कलकत्ते नहीं आयी बाकी तो इण्डिया का कोई शहर नहीं छोड़ा।

'तो साहब, मैं यहां आया और यहां क्या-क्या गुज़री वह भी सुनने-सुनाने की बातें हैं। मैंने फिल्म में भी काम किया, बम्बई गया, कलकत्ता आया। वह सब क़िस्सा बाद में सुनाऊँगा पहले वह क़िस्सा सुनाऊँ जिसका सम्बन्ध थियेटर से है। कज्जन का किस्सा। कज्जन का उस ज़माने में बड़ा ज़ोर था। थियेटर कम्पनी चला रही थी। ख़ुद सब कुछ थी। करनानी साहब उस पर दिल से फिदा थे। करोड़पति आदमी। पर इतना मनहूस कि क्या बताऊँ। उसकी शक्ल देखकर आपको मालूम हो कि·····अब क्या कहूं। इधर-उधर ज़रा-जरा से बाल, सर मुड़ा हुआ, तेल के दाग की टोपी भी वो बरसों नहीं बदलते थे। कुर्ता और घुटनों तक धोती पहनते थे। राय बहादुर—और कितने और खिताब थे उनको। पैसा बहुत था। हां बात मैं ये सुना रहा था आपको जो अधूरी रह गयी कि एकाएक शोर मचा कि कज्जन सागर कम्पनी में जा रही है और यह सही भी है कि उसने सागर कम्पनी के साथ अपना कनट्रैक्ट तै कर लिया था। क़रनानी को मालूम हुआ तो उसको स्टूडियो में बुलाने के बाद कहा कि 'देवी, कहाँ जा रही हो?' तो उसने कहा—'क्या रायबहादुरजी, आपके यहां न कोई डाइरेक्टर अच्छा है, न कोई सेटिंग मास्टर अच्छा है, न कोई कैमरामैन अच्छा है आपके यहां कोई स्टाफ स्टूडियो का···।' तो बोला—'किश किश को मांगती हो, हमें जरा बता तो दो।' उस वक्त अजरा मीर ने सवीना पिक्चर बनायी थी जुबैदा को लेकर के। उस समय अज़रा मीर का बड़ा ज़ोर था। उसने कहा—'अजरा मीर बहुत बड़े डाइरेक्टर हैं।' नौकर घनश्याम साथ में था। कहा—'कौन हिंजड़ा मीर है, उसका नाम नोट करो।' अजरा मीर को कहता है—कौन हिंजड़ा मीर है, नाम नोट करो। 'और बोलो' बोली—'सेटिंग मास्टर'। बोले—'कौन है?' बोली—"फिदा हुसैन।" मैं नहीं उनका नाम था जो इम्पीरियल कम्पनी में सेटिंग मास्टर थे। 'देखो घनश्याम, फिदा हुसैन कौन है, नाम लिखो। कैमरामैन?' उसने कहा—'फरीदुल'। फरीदुल ईरानी करके था। उसने कहा—'लिख लो।' तीनों का नाम लिख लिया। 'अच्छा तो देवी, अब तुम थोड़ा शांत रहो। ये हजरा मीर और शब जो तुमने लिखवाये हैं ये देखो, तुम्हारे पास कब आ जाते हैं।' क्या पता क्या जादू किया, कितना रुपया दिया होगा कि जो उन कम्पनियों से छुड़ाकर तीसरे दिन तीनों आदमियों को कलकत्ते में हाजिर कर दिया। अजरा मीर डाइरेक्टर, फिदा हुसैन इम्पीरियल कम्पनी का सेटिंग मास्टर और सागर कम्पनी का कैमरामैन /

मेरा प्यार

ईरानी—ये तीनों आदमी तीसरे दिन कलकत्ता में आ गये। पिक्चर शुरू हो गया। नाम था 'मेरा प्यार'। अजरा मीर तो बहुत अच्छे स्टोरी राइटर थे। अमरीका में हालीवुड में कहानी उनकी चलती थी। यहूदी थे वो। अमरीका में ही रहते थे, वहीं से आये थे। वो राइटर था बहुत बड़ा। तो 'मेरा प्यार' पिक्चर बनाया और उसका ऐलान हुआ। उसके डायलाग लिखने के लिए जिनको मुक़र्रर किया उनका नाम था मुन्शी दिल—जिनका 'लैला-मजनू' लिखा हुआ है। मुन्शी दिल हमारा लंगोटिया दोस्त था। न्यू एडफ़ेड में भी था। वह मेरे मुहल्ले में ही रहता था। उसको मैंने कहा—हमें भी कोई चांस दिलवाओ। हीरो के लिए ट्राई थी तो साहब उसमें गुलहमीद, सहगल, पृथ्वीराज साहब, नर्बदाशंकर एक गुजराती थे वे और इस तरह से कोई छः—सात आदमी स्टूडियो में बुलाये गये थे। और मुझे बुलाया गया था। उसमें हीरो का बड़ा रोल नहीं था। विलन जो था वही सब कुछ था। शाह नवाज भी आये थे उस ट्राई में, जगदीश सेठी भी आये थे। करनानी का सब! बहुत बड़ा मामला था। तो एक-एक को देखा और कहा—'ठीक है।' जब मेरा नम्बर आया तो मैं स्टूडियो में गया। अन्दर जब गया कमरे में तो देखा कज्जन अपनी मां की रान पर बैठी थीं। वे हमेशा ऐसे ही बैठा करती थीं··· मतलब वो खिलौना जैसी थीं न? करनानी सामने बैठे हुए हैं और सिगरेट पी रहे हैं। और सिगरेट भी, एक नौकर था, दरवान कोई, वह अपने पास के पैसे से सिगरेट लाकर देता था उनको—करनानी को। मतलब वो ख़ुद नहीं रखता था पर सिगरेट पीता था। तो बैठा हुआ है। पूरी कैबिनेट बैठी हुई है, अजरा मीर भी बैठे हुए हैं मुंशी दिल भी बैठे हुए हैं। हम गये सामने शेरवानी पहने हुए थे। देखा। दूसरे रोज़ बुलावा आ गया। इसी में ठहरा हुआ था. पार्क स्ट्रीट में, कोने वाली बिल्डिंग है। करनानी मैनशनको रास्ता मुड़ेगा तो वो कोने वाली बिल्डिंग भी करनानी की थी। उसी में अजरा भी ठहरा हुआ था। वहां बुलावा आया। मुंशी दिल ने कहा कि मेरे साथ चलना है। तो वहां अजरा मीर ने बुलवा करके ट्राइ लिया। एक सीन था। पहाड़ के अन्दर भेड़ चराता है। उसका उसने ट्राई लिया, मी ····रा·····पुकरवाया। ट्राई दी, पोज देखकर के। उसने कहा—'ठीक है।' बात हो गयी लेकिन कज्जन को मैं पसन्द नहीं आया। इसलिए कज्जन का कहना ही होना था। मुझे नहीं लिया गया और मुलतानी—मुलतानी उसके साथ असिस्टेंट था अजरा मीर का, उसको लिया गया। हमारी तरफ देखा भी नहीं उन्होंने। हम बहुत मायूस हुए। वैसे हम नौकर तो थे ही भारतलक्ष्मी में लेकिन चांस नहीं मिलता था। फिर हमने सोचा—करनानी से मिलना चाहिए। इनसान अपने लिए कोशिश करता है। शाम को हमने सिल्क का सूट पहना और खूब ··मतलब पाउडर भी मुंह पर जरा सा लगाया, ख़ूबसूरत बनकर गये। करनानी बैंक था उनका···राजा (या राधा) बाजार

के इधर। तो उनके बैंक में हम गये। वो बैठे हुए थे गद्दी के ऊपर, हुक्का चल रहा था उनका। हम अन्दर घुसे, और हमने दो-तीन दफ़ा सलाम किया तो उसने यूं भी नहीं किया। मतलब ऐसा ही आदमी था—मग़रूर था। फिर हमने ज़रा सा कहना चाहा कि साहब मैं तो···शिशि···इधर नहीं, इधर नहीं सुनता। भाग जाओ, भाग जाओ'—यूं कह दिया। बात ख़तम हो गयी। क़ुदरत का करना ऐसा होता है कि कज्जन का झगड़ा हो गया करनानी से, और वो अलग हो गयीं। उन्होंने कम्पनी बनायी तो जितने सलाहकार थे उन्होंने यही कहा कि तुम्हारे लिए एक ही आदमी फिट हो सकता है और वह मास्टर फिदा हुसैन। तो कज्जन बाई ने मुझे बुलवाया और उनके यहाँ डाइरेक्टर हुआ, उनका हीरो हुआ और ऐसा भी वक्त आया कि··· वो कहने की बात नहीं लेकिन फिर भी कह रहा हूं कि वे मुरीद हुईं···उनको होना पड़ा कि मुझसे बढ़कर कोई नहीं। तो ये वक्त की बात है। करनानी साहब जिसने मुझे कहा था कि—'भाग जाओ इधर नहीं सुनता है' उन्होंने जब २५००) महीने में कोरंथियन थियेटर किराये पर लेकर शाहजहां कम्पनी शुरू की तो शाहजहां कंपनी में मुझे कर्त्ता-धर्त्ता बनाया। उसमें जो ड्रामा निकला वो ड्रामा देखने आये करनानी। बाक्स में बैठे। शायद उन्हें भूल गया कि मैंने इसको थूका था। दूसरे रोज़ वो थियेटर में आये और मुझे बहुत इज्ज़त बख़्शी। ऐसे न जाने कितने वाक़यात हुए ज़िन्दगी में। बतलाता रहूं तो दस-पाँच दिन बतलाता ही रह जाऊं। पर मुझे इसी बात का फ़ख़ है कि मैं बाइज्ज़त सारी ज़िन्दगी थियेटर लाइन में रहा। मुश्किलें किसकी ज़िंदगी में नहीं आतीं, मेरे भी आयीं पर वे मुक़ाबले में बहुत थोड़ी थी। मैंने जहाँ भी काम किया, जिसके साथ भी किया, उसका प्यार पाया, मुहब्बत पायी। अपनी ओर से भी सबको मुहब्बत दी, उनके सुख-दुख में शरीक रहा। ख़ुदा बाकी की ज़िन्दगी भी यों ही गुज़ार दे, यही मन्नत है।'

'ज़रूर गुज़ारेगा। अब तक गुज़री है तो बाक़ी की भी गुज़र जायेगी—' हमने कहा और ज़रा देर को चुप हो गये। लगा बात यहीं फ़िलहाल समाप्त की जाये पर तभी फिदा हुसैन साहब बोले—'आप लोग अगर मुझ पर लगाम न लगाएँगे तो मैं तो बोलता ही जाऊंगा। चलिए, मैं खुद ही लगाम लगाये लेता हूं अपने ऊपर। अब मूनलाइट की बात करूंगा, ख़ाली उसी की बात करूंगा।

'मैं सन् १९४८ में दुबारा आया और सन् १९६७ तक, पूरे बीस साल तक रहा मूनलाइट में। मूनलाइट वो कम्पनी थी जिसे मैंने अपने हिसाब से चलाया अब। तक जिन कम्पनियों में काम किया मैंने उसमें ज्यादातर तो ऐक्टर ही रहा मैं। कहीं डाइरेक्टर भी रहा तो चलती थी मालिकों की ही बहुत दूर तक। पर मूनलाइट में बात दूसरी थी। मालिक यहां भी थे पर वे व्यापारी थे, उनके लिए मूनलाइट थियेटर

भी एक बिज़नेस का फर्म था। महीने की नफ़े की रक़म से ही उनका वास्ता था। बाक़ी मैं जो चाहूं, जैसे चाहूं करूँ, वे कभी दख़ल नहीं देते थे। बहुत इज्ज़त बख्शी उन्होंने मुझे। घर के आदमी जैसा माना मुझे। मैंने भी दिल से काम किया, मूनलाइट को अपनी कम्पनी मानकर काम किया।

"मूनलाइट में पहला ड्रामा निकला पूरन भगत। नया ड्रामा लिखवाया, लिखा—बी० सी० मधुर ने। बाम्बे में रहते हैं। पिक्चर भी बनाते हैं। जवाब फिल्म के गाने उन्होंने लिखे थे पहले। और जूथिका राय जितने भी भजन गाती थीं, वो उन्हीं के लिखे होते थे। वो कलकत्ते में थे। मेरे बड़े दोस्त और भाई और साथी थे। ये ड्रामा उन्हीं का लिखा हुआ था। पूरन भगत मैं खुद बना था। कुछ मिनर्वा का स्टाफ लिया था। कुछ और लोग···सीता देवी के अलावा क़रीब-करीब सभी लोग आ गये थे। एक हिसाब से मिनर्वा कम्पनी बन्द ही जैसी हो गयी थी। सभी साथ आ गये थे—कमल मिश्रा, मुजफ्फर खां, (मजहर खां ??)। जो मेन आर्टिस्ट थे वो सब मेरे साथ आ गये थे मूनलाइट में। और कुछ देहली से लाये थे, कुछ बम्बई से। इस तरह मजबूत स्टाफ के साथ कम्पनी शुरू हुई थी—पूरन भगत। लेकिन जरा मुश्किल यह पड़ी कि जेन्ट्री पब्लिक मूनलाइट में आते हुए घबड़ाती थी। क्योंकि उसका पहले का माहौल अच्छा नहीं था। पहले छोटे क्लास की पब्लिक और छोटा टिकट होता था। तो मिनर्वा और कोरंथियन की जो मार-माड़ी पब्लिक मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिलती थी। फिर भी मेरी वजह से और जो आर्टिस्ट थे उन सब की वजह से पब्लिक तो आयी लेकिन वो कम्पनी को फ़ायदेमंद नहीं हो रहा था। फिर दूसरा ड्रामा निकला।"

कलकत्ता की बात आते ही हम सजग हो गये और इसके पहले कि फिदा हुसैन दूसरे ड्रामे की बात करें हमने प्रश्नों की झड़ी लगा दी—कितने दिनों चला पूरन भगत? कितने शो होते थे महीने में? बंगला थियेटर में जैसे बृहस्पतिवार, शनिवार रविवार होता है, वैसा ही आपलोगों का भी था? टिकट की दर क्या थी? आदि आदि। फिदा हुसैन साहब ने बड़े धीरज से हमारे प्रश्नों का जवाब दिया—"पूरन भगत एक महीना चला हम हफ़्ते में छ दिन करते थे, सोमवार ऑफ डे रहता था। बड़ी क्लास की पब्लिक कम मिलने लगी, नीचा क्लास भरता था। और टिकट की दर पांच रुपया, तीन रुपया, दो रुपया, एक रुपया होती थी। लेकिन सॉरी, ग़लती हुई। १०/-था आगे का। १०/-की सीटें भी स्पेशल बनवायी थीं। एक-एक कुर्सी १००/-१००/-की थी, क्योंकि सोचा था मारवाड़ी पब्लिक बहुत आएगी, उनके लिए स्पेशल सीट बनी, पर ऐसा कम हुआ। दूसरा ड्रामा निकला। रणधीर साहित्यालंकार जो 'झांसी की रानी' के लेखक थे, उनका दूसरा ड्रामा निकाला हमने 'नयी मंजिल'। सोशल ड्रामा था, सामाजिक। बहुत अच्छा ड्रामा था और लोगों ने भी बहुत पसन्द

किया उस ड्रामे को। लेकिन जैन्ट्री पब्लिक का फिर भी वही हाल। कुछ आए पर कम आए। एक महीना वो भी चला। वो एक महीना से एक हफ्ता ज़्यादा चला। तीसरा ड्रामा निकला—'नल दमयन्ती'। बड़ा ड्रामा था। पूरन भगत में तो हिरोइन लिया था अमीना ख़ातून को—जो बाद में क़व्वाली वग़ैरह करती रही। बड़ी टॉल फिगर और बड़ी लंबी-चौड़ी आवाज़ थी उसकी। 'नयी मंजिल' में भी वही थी हिरोइन। दूसरी और लड़कियाँ थीं बहुत सारी पर मेन वही थी 'नल दमयन्ती' में कमला गुप्ता एक थी उड़ीसा की रहनेवाली बहुत बढ़िया गला था उसका और बहुत ही सुन्दर लड़की थी, उसको लिया हिरोइन। बड़ी अच्छी लड़की थी। दमयंती उसको बनाया था। जैसे कमला झरिया की आवाज़ थी उस तरह की उसकी आवाज़ थी। बहुत बढ़िया आवाज़ थी। वो भी क़रीब एक महीना चला लेकिन उसके चलते हुए ही हिन्दू-मुसलिम रायट हो गया। बहुत बड़ा रायट नहीं हुआ लेकिन हुआ। उस रायट में कर्फ्यू वग़ैरह लग गया। इधर चार घण्टे का प्रोग्राम कामयाब नहीं हो रहा था। मतलब सक्सेस कोई ख़ास नहीं मिल रही थी। इसलिए फ़िर उस वक़्त कम्पनी को बंद कर दिया गया। यह वाक़या १९४८ का है। बन्द कर दिया उस वक़्त। लेकिन मुझको मालिक कहते थे कि स्टाफ जो है उसको आप रोकिए। मतलब आप ख़ास करके रुकिए, हम चेंज़ करके कुछ अपना प्रोग्राम बनायेंगे। लेकिन मैं···कानपुर में एक कम्पनी बनी, सरस्वती थियेट्रिकल कम्पनी के नाम से। वो लोग आ गये और बड़ी तनख़्वाह देकर सब स्टाफ को और मुझे भी क़रीब हजार रुपया तनख़्वाह पर वो लोग कानपुर ले गये। यह क़िस्सा कल बता चुका हूं। तो चला गया कानपुर वहां ६ महीना कम्पनी चली। इसी बीच में हमारा और सीता देवी का झगड़ा जो था वह यहीं पर तै हो गया और सीता देवी कानपुर हमारे साथ गयीं। वहाँ बहुत सारे ड्रामे किये। 'कृष्ण-सुदामा' ख़ूब चला और 'नरसी मेहता' तो करेंसी नोट था। वो तो वहां पहले बहुत पास हुआ था लेकिन छ महीने में ज़्यादातर 'झांसी रानी' ड्रामा चला। उसमें मेरा कोई रोल नहीं था। उसमें मेन रोल है काले ख़ां या मेजर एलिस का। तो जो मेजर एलिस का पार्ट करने वाला था वो दो दिन बाद भाग गया वहां से। फिल्म के पीछे। तो एलिस क़ा पार्ट मैंने किया। लोग कहते हैं कि बहुत अच्छा हुआ क्योंकि उसमें हिन्दी भाषा जिस लहजे में बोली जाती थी 'मिस्टर हरिहर, हमारे कहने का मतलब ये है··· बट···आप लोग सला मशविरा से जो करेंगे, उसमें हम भी अपना राय डे सकता है'—मतलब मेरी बोली और मेकअप भी बिलकुल अंग्रेज जैसा ही किया था। नहीं पीने पर भी एक आध दम लगाता था, क्या कहते हैं उसको पाइप··· उसमें तम्बाकू भरकर के उसको हाथ में रखता था। एकाध बार ज़रा सा मुंह में लगाकर दम लेकर धुआं छोड़ता था। पब्लिक को भी यक़ीन आ जाता था···उसमें कई दफा ग़ुस्से में एक ऐक्शन

रहता था उसको···चर्चिल लड़ाई के जमाने में चुरुट को यूं करता था न ऐसे हवाई जहाज को देखकर···तो उसको कई मर्तबा मैंने किया तो पब्लिक ने बहुत पसन्द किया। ख़ैर, कम्पनी छ महीने के बाद बन्द कर दी। मैं कानपुर से घर आया मुरादाबाद। मुरादाबाद से बाम्बे चला गया। फिल्म में। फिल्म में गया तो वहां बड़ी लम्बी-चौड़ी पार्टीबाज़ी देखी और कुछ अच्छा नहीं लगा। सबसे बड़ी समस्या वहां थी रहने की। वहां बहुत सारे दोस्त थे, सब थे, पर मैं अपना अलग इन्तज़ाम चाहता था। एक फ्लैट देखा। बहुत दूर जगह थी, बहुत अच्छा फ्लैट था, किचन भी था सब था मगर वो पन्द्रह हज़ार उसकी पगड़ी मांगता था। मैं पांच हज़ार भी नहीं दे सकता था। तो सबसे बड़ी समस्या रहने की थी। इसलिए बाम्बे से क़रीब तीन महीने के बाद मैं चला आया। होटल में ठहरा था, पास में जो था सब खर्च करके चला आया। मैं फिल्मकार कम्पनी में गया था जिसने 'दीदार' पिक्चर बनाया था। लेकिन वहां पर देखा कि मेरा गुज़ारा नहीं होगा। रिश्वत-ख़ोरी थी। उस कैरेक्टर के लिए पन्द्रह हज़ार का कन्ट्रैक्ट था, सात-साढ़ेसात लिया डाइरेक्टर ने और साढ़े सात आर्टिस्ट को देने का तै किया। मैं इसको कैसे मानता ? वो चाहते थे कि मान लीजिए इस चीज़ को। जो मिलेगा, आधा आपका आधा हमारा। बहुत बड़ा डाइरेक्टर था लेकिन मैंने इसको नहीं माना, चला आया।"

हमसे फिर न रहा गया। हमने टोक ही दिया—'स्टेज पर भी ऐसा होता था क्या ?' फिदा हुसैन साहब बोले—"ऐसे रिश्वतखोरी तो नहीं होती पर हां, स्टेज पर और कम्पनियों में डाइरेक्टरों की बड़ी ख़ातिर होती थी। कोई ऐक्ट्रेस कभी मुर्गा पकाकर ला रही है, कोई पुलाव पकाकर ला रही है। लेकिन अपने कभी-किसी का पान भी नहीं क़बूल किया, आदत ही नहीं थी ऐसी। रिश्वतखोरी के बाद तो काम में ख़राबी पड़ती है न। एक तो यह कि किसी के साथ अगर ख़ातिर क़बूल कर ली तो उसके साथ रियायत करनी पड़ती है। और मूनलाइट कम्पनी में तो···भाई, जहां भी मैंने किया, डिसिप्लिन को क़ायम रखकर के किया। मैं तो मिलिटरी कैंप (न्यू एल्फ्रेड कम्पनी) में रहा था बारह साल सो आदतें ही ऐसी पड़ी हुई थीं, मजबूर था। तो ख़ैर, बाम्बे में मेरा दिल नहीं लगा। किसी सूरत से फिर मैं कलकत्ता आ गया। वो लम्बी कहानी है कलकत्ते आने की। ख़ैर, कलकत्ते आ गया तो यहां पर एक और कम्पनी बनी। बनने की तैयारी थी उस समय, उसका इनचार्ज बना रहे थे वो मुझे। वहां पर दिल नहीं लगा। फिल्म की ये सारी बातें चाहिएगा तो अलग से बता दूंगा। अभी तो पहले मूनलाइट की बात बता लूं। फिल्म में मेरा मन इसलिए नहीं लगा क्योंकि मेरे दिमाग़ में तो मूनलाइट थी। मुझे लोगों ने यह कह रखा था कि इतने नाराज़ हैं मूनलाइट के मालिक कि आप से मिलना भी पसन्द नहीं करेंगे। लेकिन बी० सी० मधुर था, उससे मैंने कहा तो

उसने कहा—'पागल हो गया है ?' वह मुझे अपने साथ लेकर के गया आफिस में, इसप्लैनेड पर। इत्तफ़ाक़ से गोल टेबुल पर चारों तरफ गोबर्धन बाबू, विश्वेश्वर बाबू, श्री बाबू और सालिग बाबू चारों भाई बैठे हुए थे। किसी वजह से सब जमा हुए थे। दो तो यहां रहते ही थे गोया। फाइनेंस का काम श्री बाबू के हाथ में था। कण्ट्रोलर थे विश्वेश्वर बाबू। और हमारे गोबर्धन बाबू, वे तो भोले बाबा थे। वो जो काम कर लेते थे तो सब को ज़बरदस्ती निभाना ही पड़ता था। सालिग बाबू के ज़िम्मे धार्मिक काम थे। पूजा-पाठ वग़ैरह, इसके ज़िम्मेदार वो थे। तो ख़ैर, जैसे मैं गया, ऐसा दिल में सोचा नहीं था, जैसे कि चारों भाई उठकर खड़े हो गये—'अरे मास्टर जी, आप कहाँ चले गये थे हमलोगों को छोड़कर के। अरे मास्टरजी, आइए।' तो दिल में बहुत ही खुशी हुई कि सुनता था कि बात ही नहीं करेंगे और ये···। गोबर्धन बाबू बोले—'देखिए मास्टर जी, अब कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है।' मैंने जाते ही उनसे कहा—'साहब, फिल्म की लालच में गया था। वहां किसी ने पूछा नहीं और वहां पर धक्के खाये, चोट पड़ी तो फिर आपके पास आ गया हूं।' उन लोगों को बहुत पसन्द आयी यह बात कि मैं इतना सच-सच बोल रहा हूं उनके सामने। तो उन्होंने कहा—'आपकी कम्पनी, आप सम्हालिए। हमारा पीछा छूटा।' मैंने कहा—'ठीक है'। तो फिर मूनलाइट ज्वाइन कर लिया। मूनलाइट में ढाई घण्टे का प्रोग्राम बनाया। एक कहानी ढाई घण्टे की। अब अपनी हिन्दी पब्लिक ज़्यादा मारवाड़ी थी और मारवाड़ियों को पापड़ भी चाहिए, अमरस भी चाहिए, दाल भी चाहिए, सब कुछ···मारवाड़ियों का दस्तरखान तो आप जानते ही हैं। वैसे ही थियेटर का भी उनका था। ढाई घण्टे में कामिक भी होना चाहिए, गाने भी होने चाहिए, डांस भी होना चाहिए और ड्रामा के अन्दर अगर कहानी में दम नहीं है तो कितने ही बड़े आर्टिस्ट हों कुछ भी हो जाये, वो चलने वाली चीज़ नहीं है। अगर कहानी में दम है, क्रम उसका टूटे नहीं, कड़ी से कड़ी मिली रहे तो वह टिकती है। इसके लिए ढाई घण्टे का प्रोग्राम हमने बनाया। नयी कहानी लेने में थोड़ा रिस्क था, कौन जाने पास हो या फेल। तो पहले जो ड्रामा बम्बई में पास हो चुका था देसी समाज में, देसी बोली के नाम से, वो मैंने किया।···क्या हुआ ? देसी समाज नहीं समझ में आया। असल में देसी समाज बम्बई की गुजराती कम्पनी थी, उसमें प्रभुलाल त्रिवेदी के ड्रामे होते थे, और वो जो क़ाबिल लेखक थे—कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी समझ लीजिए, ड्रामे की दुनिया में प्रभुलाल त्रिवेदी उनसे भी क़ाबिल थे। उनकी फिल्म 'आइना' है, 'देवर' है, 'गृहस्थी' है। ये कहानियां सारे हिन्दुस्तान में बहुत पापुलर हुई थीं। पहले रिस्क न ले करके उनके नाटकों का अनुवाद करके उर्दू में किया। वो सेंट परसेंट पास हुआ। ढाई घण्टे के अन्दर। दो शो रोज़ के। और एक पिक्चर साथ में। पिक्चर शुरू

करते थे साढ़े तीन-पौने चार बजे। सिस्टम ऐसा रखा था कि स्क्रीन वग़ैरह सब गाड़ी पर फिट था। तीन मिनट के अन्दर स्टेज साफ़ होकर के गाड़ी और स्क्रीन लग जाता था। उसके पीछे पहले सीन का स्टेज तैयार रखते थे। आगे के टुकड़े दो-तीन मिनिट में लग जाते थे। तो वो ख़त्म होता था ६ बजे ठीक। ६ बजकर पन्द्रह मिनिट पर हम ड्रामा शुरू कर देते थे। वो ड्रामा उसके बाद चलता था ढाई घण्टे। रात का शो सिर्फ़ ड्रामा ही होता था। उसमें फिल्म का शो नहीं होता था। छहो दिन दो शो रोज़। बाद में मंगल और शुक्र को मारवाड़ी भाषा का ड्रामा निकालना शुरू कर दिया था। सप्ताह में एक ड्रामा हिन्दी का हुआ और एक मारवाड़ी भाषा का। मारवाड़ की बहुत सी अपनी कहानियां हैं। बड़े अच्छे-अच्छे सबजेक्ट हैं उनके। 'गांगरो तेली' 'जगदेव कंगाली' 'ढोला-मरवण' 'बीन-बीनड़ी' 'रामू चरणा' वग़ैरह। उसी पर ड्रामा बनाते थे। 'बीस बरस को बीन, बीनड़ी साठ की'—मदन का यह ड्रामा बहुत चला। मतलब साठ की औरत और शौहर उसका बीस का। पूरा कामिक। बड़ा अच्छा ड्रामा था। तो ये मंगल को दो शो, शुक्र को दो शो। साथ में फिल्म का एक शो। सो ख़ूब भरपूर पैसा आता था।

"और हमारे मूनलाइट का मज़ा देखिए कि एक ही टिकट में हम नाटक और फिल्म दोनों दिखलाते थे। यों था कि पाँच रुपया, तीन रुपया और ढाई रुपया या शायद पाँच, तीन और डेढ़ का टिकट होता था। यह क्लास तभी खुलता था जब थियेटर चालू होता था। इसका टिकट फिल्म के साथ नहीं रहता था। फिल्म का जो तीन क्लास था वह भरकर रहता था पहले से। आगे का ख़ाली रहता था। जब थियेटर शुरू होता था तो जो आते थे वो थियेटर वाले। फिल्म के साथ वाला टिकट होता था एक रुपया, बारह आना और आठ आना। उसमें दोनों देखने को मिलता था। इसीलिए तो पब्लिक टूटती थी। कभी ख़ाली रहा ही नहीं वह क्लास। भरकर पूरे रहते थे। ज़्यादा मंहगे टिकटवाले फिल्म देखना ही नहीं चाहते थे। सब देखे हुए पुराने पिक्चर चलते थे न। उसका कोई सवाल ही नहीं था। फोर्थ रन भी पार कर चुका हो उसके बाद वह फिल्म वहां चलती थी। डिस्ट्रीब्यूटर आफिस भी था मेहरोत्रा लोगों का। वो पिक्चर मिलता था पचास रुपये, सौ रुपये के अन्दर। सस्ता था। इनको इनकम बहुत होती थी। इस तरह से···हर महीने एक ड्रामा हम निकालते थे। कोई ड्रामा अगर टिक गया हिन्दी का बहुत अच्छा, जैसे 'कृष्णलीला' टिका था, 'देश की लाज' तो वो तीन-तीन महीने तक चलते रहे, हाउस भरकर आते रहे। मारवाड़ी ड्रामे में 'ढोला-मरवण' या 'बीन-बीनड़ी' या दूसरा वो 'बीस बरस को बीन, बीनड़ी साठ की' कई-कई महीने चलते रहे। ख़ाली चार शो होता था हफ़्ते में महीने में सोलह शो होते थे। उनके छत्तीस शो तक होते थे। हम हर महीने में ड्रामा निकालते थे, बीस साल तक यही सिस्टम रहा। और पांच हजार

से कम के फ़ायदे का सवाल नहीं था। पांच हज़ार से कम आने पर कम्पनी नुकसान में जा रही है, यह समझ लीजिए। इससे ज़्यादा बचता था। और जब कभी ऐसा हुआ तो बुलाया गया आफिस में और कहा—'मास्टर जी' इसको कुछ ज़रूरत है। क्या किया जाये ?' उनका कहना था कि जब कम पैसा आये तो पैसा और लगाइए। बनिया बुद्धि थी, बिज़नेस की बात थी। कहते थे क़ायदा यही था कि जब कम पैसा आये या कम्पनी में कुछ कमज़ोरी हो तो कुछ और पैसा लगाइए। पैसा लगाकर वे कमी पूरी करते थे। नये आर्टिस्ट भी लाते थे। सेट वग़ैरह तो बनते ही थे नये। नये ड्रेस भी। इस तरह से बीस साल तक मूनलाइट में चला।'

'अच्छा, आप लोगों के यहां केवल हिन्दी भाषा-भाषी दर्शक आते थे। बंगाली नहीं आते थे ?'

'नहीं। कुछ लोग जिन्हें मज़ा पड़ गया था बंगाली लोगों को हिन्दी नाटक देखने का वो आते थे। परिवार के साथ नहीं, अकेले आते थे। इसलिए कि उनको वही अच्छा लगता था।'

'बंगला थियेटर के जो ऐक्टर थे, आप लोगों ने उनको लिया था ?'

'हां। विमल थे, शरद कुमार थे। ऐक्ट्रेसों में तो खाली एकाध हिन्दी वाली थीं। बाक़ी सब तो बंगाली रहती थीं। मुकुल ज्योति, कनकलता, रानी बनर्जी ये सब थीं—सीता देवी थीं—सभी बंगाली थीं। मेल में कई थे।

'अच्छे आर्टिस्ट बंगालियों में कोई थे पारसी थियेटर में ? ख़ूब महत्त्वपूर्ण कोई था ?'

'नहीं। इमपोर्टेन्ट कोई नहीं था। हीरो कोई नहीं था।'

'बीस वर्षों में सबसे सफल नाटक कौन सा हुआ ?'

'सबसे सफल रहा कृष्णलीला। उसमें कनकलता को कृष्ण बनाया था। छोटा सा क़द उसका। ख़ूबसूरत लड़की थी। और सीता देवी यशोदा थीं। हम नारद थे। उसमें मेन नारद रहता है। वही विष्णु भगवान को मजबूर करता है कि आप अवतार लीजिए कंस को मारने के लिए। उसका एक दृश्य था। एक के ऊपर एक लड़के चढ़ जाते थे और उनके कन्धे पर चढ़कर कृष्ण मक्खन निकालता था। खा भी रहा है, दूसरों को दे भी रहा है।' अरे मों को भी दे, अकेलो-अकेलो खाय रह्यो है।' तो कहा—'ले।' इतने में उधर से आवाज़ आती हैं—'कान्हा'·· बस डर गये सब लड़के। कोई इधर भागा, कोई उधर भागा। कृष्ण भी नीचे गिरता है। वो मनसुखा खिड़की के पीछे छिप गया जा करके। कृष्ण भागने वाला है कि पकड़ लिया गया। यशोदा पकड़ लेती है कि मक्खन किसने गिराया ? तो वो कहता है कि—मैंने नहीं गिराया है। कृष्ण कहता है—'मैया, मैं नहीं गेरियो है।' यशोदा—'तो फिर ?' कृष्ण-'मनसुखा गेर गयो।' मनसुखा

वहीं से बोला—'लो, सालो मोंको पिटवाने की बात कर रह्यो है।' तो इससे पब्लिक बहुत ख़ुश होती थी। फिर वो दही बिलोने की रस्सी लेकर के उससे हाथ बांध देती है। फिर दोनों का डुएट गाना था —

'मैया मोरी, मैं नहीं माखन खायो।
मो पे झूठो दोष लगायो।।'
'कान्हा मेरे, तैंने ही माखन खायो
मैंने, पूरो पतो लगायो।।'
'भई भोर तो गाय चरावन
मैया मोहे पठायो।
सारो दिन बंसीबट बीत्यो
सांझ भये घर आयो।।'
'काहू की मटकी काहू को माखन
लरिका को चीर चुरायो।
बिन पीटे तोहि आज न छोड़ूं कान्हा
चले न कोउ उपायो।

यह सीन इस तरह से चलता था। और इस सीन की ख़ातिर पब्लिक बहुत भरती भी। औरतें भी और मर्द भी। एक घण्टे का सीन था, पूरे एक घंटे का! ड्रामा एक तरफ···डेढ़-सवा घण्टे में सब प्रोग्राम और एक घण्टे का यह सीन। हिलता नहीं था कोई। इस तरह से कृष्ण लीला चला सबसे ज्यादा।'

'आपके दर्शकों में किस तरह के लोग सबसे ज़्यादा रहा करते थे? किस वर्ग के? शुरू में आपने कहा था कि उच्च वर्ग के लोग नहीं आते थे। बाद में आने लगे थे धीरे-धीरे?'

'ढाई घण्टे के प्रोग्राम में सब आने लगे थे। मोहनलाल जालान···गिरधारी लालजी मेहता वगैरह वे तो कोई नाटक छोड़ा ही नहीं। 'मतलब समाज के समृद्ध लोग भी आते थे' पर ज़्यादा नहीं। ज़्यादा तो कटरेवाले, व्यापारी, दुकानवाले ही रहते थे। पाँच, ढाई और डेढ़ रुपये क्लास का सनीचर-एतवार को तो टिकट मिलता ही नहीं था। पहले से रिजर्व हो जाता था। एतवार को तीन शो होते थे। ११ बजे एक स्पेशल शो। सोमवार को बन्द रहता था। चीन की लड़ाई जब शुरू हुई तब तक 'देश की लाज' ड्रामा निकला। वो बहुत अच्छा चला।'

'कृष्णलीला किस साल में हुआ? और कितने दिनों चला?'

'कृष्णलीला मेरा ख्याल है ५५-५६ में निकाला और तीन महीने चला-३६ शो हर महीने। आम तौर पर दूसरे नाटक एक महीना चलते थे, यह तीन महीने चला। सौ से ऊपर ही शो हुए। उसके बाद भी अगर कोई ड्रामा कमज़ोर हो

गया—सब ड्रामे एक से नहीं जाते थे न-तो कृष्ण लीला बीच में डाल देते थे। नरसी मेहता निकाला वह भी ख़ूब चला पर वह तो पहले ही ख़ूब पैसा दे चुका था। उस ड्रामे को पब्लिक ढाई घण्टे में नहीं देखना चाहती थी। वो चाहती थी कि वो ड्रामा तो पूरा होना चाहिए।'

'ढाई घंटे का करने के लिए पुराने नाटक को छोटा कर दिया था ?'

'बिलकुल। ढाई घण्टे का प्रोग्राम ही फिल्म किया था। वैसे नरसी मेहता नाटक चार घण्टे का था। उसे शार्ट किया था। 'देश की लाज' में सुखाड़िया जी आये राजस्थान से, सुधांशु जी आये बिहार से, एक मिनिस्टर आये उनके साथ। तो ये ख़ूब चला-तीन महीने तक यह भी चला। उसमें एक रील फिल्म का भी बनाया था। स्टेज पर काम कर रहे हैं। उसमें चीन के साथ लड़ाई का जो सीन था, वो आहुति वग़ैरह फिल्म में जो जंग के सीन दिखाये थे उनमें से फिल्म के टुकड़े काटकर के उनको जोड़ दिया। मेहरोत्रा लोगों के लिए आसान बात थी। डिस्ट्रीब्यूटर भी थे। और झा और नीलम जो पार्ट करते थे, मरने के वक्त का सीन वह था इन्द्रपुरी स्टूडियो में जाकर के शूटिंग करके सीन को तैयार किया था। इसका बहुत अच्छा असर होता था।'

'आपके मालिकों की दृष्टि नाटक करने में केवल व्यावसायिक थी या उसके अतिरिक्त नाटक से लगाव भी था ?'

'लगाव बिजनेस के लिए था। मेन चीज़ बिजनेस थी। गोवर्धन बाबू ने जब खोला तो उनका मेन ध्येय पैसा कमाना था। इसने पैसा कमाया, ढाई घण्टे के प्रोग्राम ने कसकर पैसा दिया। असल में एक तरह से मूनलाइट का बोलबाला था। इनके अलावा कई कम्पनियां बनीं मगर कोई चली नहीं। सेन्ट्रल में एक बनी थी। भगवती कागजवाले थे। उन्होंने कई लाख रुपया कमाया था। उन्होंने कम्पनी हॉल-वाल भी बनवाया राधा बाजार में। छोटा सा हॉल था। उसमें बड़ी कम्पनी बनाकर चलाया पर वह चली नहीं। मूनलाइट का मामला चलता रहा। उसके मुक़ाबिले कोई टिका नहीं।,

'आप मूनलाइट की सफलता का क्या कारण समझते हैं ? दूसरी कम्पनियां यहां बनकर के भी नहीं चल सकीं और मूनलाइट को बराबर आडिएन्स मिली, पैसा मिला। क्या कारण था ?'

'सबसे पहला कारण तो यह था कि जैसी चाहत थी लोगों की, जिस तरह के ड्रामे वे चाहते थे वैसे ड्रामे दूसरी कम्पनियां नहीं दे पाती थीं। पुराने ड्रामे करने पड़े, पुराने ड्रामे जैसे 'रामू चरणा' या ढोला मरवण' उससे चालू किया। तो वो कै दिन चलेगा ? वह तो पहले पैसा दे चुका है। यहाँ तो हर महीने नया ड्रामा निकलना चाहिए। एक और ख़ास बात थी, अच्छी हिरोइन नहीं मिली। मिली भी तो

टेमपोररी मिली। किसी ने तवायफ़ से काम कराया, नसीम बानो को लिया। उस ज़माने में उसका मुजरा अच्छा चलता था मगर वो ज़मती नहीं थी। मूनलाइट में सीता की वजह से, ख़ूब जमकर ड्रामे बोलने वाली थी; सो ख़ूब चले ड्रामे। मूनलाइट के चलने का सबसे बड़ा कारण यह था। इतना-इतना पानी भी हो तो जब पब्लिक घर से इस इरादे से चली कि ड्रामा देखना है तो कभी लौटकर नहीं गयी। बारिश में भी, सड़कों पर पानी भर जाता था तब भी, ड्रामा टाइम पर शुरू होता था। यह नहीं कि अभी आडियेन्स कम आयी है। ड्रामा टाइम से निकलता था। और चलता था।'

'मूनलाइट बन्द क्यों हुआ ? १९६८ तक ठीक से चल रहा था न ? तब बन्द क्यों हुआ ?'

'बिलकुल अच्छा चल रहा था।'''६७ में बन्द हुआ और वह भी मेरी वजह से। मुझे सर में यहाँ तकलीफ़ होने लगी थी। ब्लडप्रेशर था या जाने क्या था। बहुत सारे इलाज किये, बड़ा डाक्टर था चड्ढा, उसने इलाज किया। कुछ फ़ायदा हुआ मुझे मजुमदार के इलाज से, होमियोपैथिक डाक्टर थे। उनका कहना था कि बवासीर की वजह से तुम्हें यह तकलीफ है, उसका इलाज करो। उसका लम्बा इलाज है। उसकी बात पर यक़ीन हुआ। तो एक तो मैं गोया दर्द की वजह से तकलीफ़ पा रहा था फिर घरवालों ने ज़ोर भी दिया। उन लोगों ने बिजनेस जमा लिया और तै कर लिया कि मुझे ले जायेंगे। थोड़ी तकलीफ़ रहती ही थी सो उन्हें तो बहाना मिल गया। लड़के दोनों साथ ही बहू, पोती, दोनों पोते और घर में से भी सब आ गये। बड़ी परेशानी हुई। दो एक आदमी आते पर नहीं, पूरा कुनबा आ गया। मतलब लेके ही जाना है। उसी फ्लैट में रहे। उसमें जगह थी रहने की। बड़ा कमरा उनको दे दिया एक कमरा अलग रखते थे हम। मैं वकील साहब के उस कमरे में चला गया। ख़ैर, तो मैंने मालिकों से बहाना किया कि मैं इनका कहना मानकर जा रहा हूं। पहले बहुत कोशिश की थी लेकिन वो माने नहीं। तो उसके बाद यह कहकर कि मैं एक महीना बाद आ जाऊँगा, गया। कम्पनी चालू रखी। सीताराम और झा जी को, एसिसटेंटों को, सुपुर्द किया। सीता उस समय थी कम्पनी में। तो मैं घर चला गया और एक महीने के बाद नहीं आया। कमरा अभी छोड़ा नहीं था। इनका टेलिग्राम गया कि आप कब आ रहे हैं ? मैं फिर आ गया—डेढ़ महीने के बाद। आने के बाद मैंने फिर काम नहीं किया। थोड़ा काम डाइरेक्शन का बस देखा। मतलब मेरा दिल नहीं था यहाँ रहने का, तै कर चुका था घर रहने का। तो फिर पन्द्रह दिन का कहकर मैं आया मुरादाबाद कि मेरा कुछ जरूरी काम है। कम्पनी चालू थी तब भी। फिर उनके तीन टेलिग्राम पहुंचे विश्वेश्वर बाबू के नाम से कि फ़ौरन मिलिए। यहां से सीता देवी

का खत भी गया मेरी बीबी के नाम। इसने इतना दर्दनाक खत लिखा कि मेरी बीबी रोने लगी बेचारी। ऐक्टिंग की बात थी कि राम सीता को ऐसा छोड़ गए वगैरह वग़ैरह। मेरे पास रखा हुआ है। इधर से और खत गए। सीता का खत गया। मतलब यह कि —मास्टर जी आपके बिना चलने वाला धन्धा यह नहीं है। अगर आप नहीं आयेंगे तो सौ आदमियों की रोज़ी चली जायेगी, वग़ैरह वग़ैरह। कोई मानता नहीं है किसी की। भा जी बिचारा सीधा आदमी। रोब चाहिए न। मालिक तो देखते नहीं। मैनेजर को अन्दर आने का भी आर्डर नहीं, दख़ल देने का आर्डर नहीं। कुछ बड़ी तकलीफें हुईं। तो तीन टेलिग्राम पहुँचे इनके। मैं फिर आ गया। आने के बाद एक दिन उन्होंने घर पर बुलाया और सब कुनबे को जमा कर लिया। कुनबे में तो मैं बहुत मक़बूल था—बहुएँ भी सब बहुत मानती थीं। विश्वेश्वर बाबू बोले, 'पूछो, मास्टर जी हमें क्यों छोड़ना चाहते हैं।' बड़ी करुण बात थी, दिल पर भी असर होता है, फील होता है। तो फिर बहस-मुबाहसा हुआ। उसके बाद विश्वेश्वर बाबू ने कहा, 'मास्टर जी, हमें सच-सच बताइए कि क्या इरादा है।' तो मैंने कहा—'अब मैं काम नहीं करूँगा, थियेटर छोड़ दूँगा।' तो बोले—'अच्छा, तब अपने हाथ से इसको दफ़न कीजिए। ख़तम कर दीजिए। हम नहीं चलायेंगे।' थियेटर कम्पनी चलाना उनके बस का काम नहीं था। मैं रहता तो वो चलाते, पब्लिक में चाहत थी। क्योंकि ख़ासकरके मुजफ्फरपुर' भागलपुर, आसनसोल यहाँ से जो लोग रोज़ के आने वाले थे माल लेने को, मुर्गाहट्टे और दूसरी बड़ी जगहों से, जो खुदरा व्यापारी थोक माल ले जाते थे, उनका बंधा हुआ था। क़रीब सौ-सवा सौ लोग रात के शो में बाहर के ज़रूर ही होते थे। रात में शो देखा और ट्रेन में बैठकर चले गये। थैला उनके पास है। ऐसा बराबर बँधा हुआ था। तो फिर सबको रुख़सत किया। फिर उनसे यह कहा कि आप इतनी मेहरबानी मेरे ऊपर कीजिए कि मेरे जाने के बाद आप इसको बन्द कर दीजिए। वो उसके लिए तैयार नहीं। बोले—'मेरे सर पर यह बदनामी आप क्यों रखते हैं? यह तो आप ही बन्द कर रहे हैं। तो इसको क्यों छुपाते हैं।' तो बहुत उनको समझाया कि सब लोग कोसेंगे। न जाने किसकी हाय पड़े। ये बिचारे इतने दिनों के बाद कहाँ दूसरा घर ढूंढ़ने के लिए जायें। रोना-पीटना मच गया कम्पनी में। बहुत सब को दुःख। वैसे कोई ख़ाली नहीं रहा। जो काम करने वाले थे उनको···कलकत्ते में बराबर पार्टियां बनती रहती हैं। पूजा के टाइम पर कोलियरियों का काम होता है, चाय बगान में पार्टियाँ जाती हैं सब। मगर हाँ, परमानेंट कम्पनी की तरह ठीक-ठीक एक तारीख़ को पैसा मिलना वह कहाँ? हमारे यहाँ तो कभी दो तारीख़ नहीं हुई। जो २० बरस से भी ज़्यादा का नियम रहा—वह बात और कहाँ। किसी तरह बहुत मुश्किल से उन्होंने माना। इन लोगों को झूठ मूठ कहा कि 'कम्पनी चालू है, तुम

लोग घबड़ाते काहे को हो।' पर अन्दर में उनको मालूम हो ही गया था। बेचारे बहुत मायूस थे। मैं उस समय चला गया। अपना सब समान लकड़ी की लम्बी लम्बी पेटियों में भरकर···पैंतीस साल रहा तो सामान तो था ही। आलमारी वग़ैरह सब बनी हुई छोड़ दी, लकड़ी की थी। टेबुल-कुर्सी थी। एक चेयर अपने साथ से गया बाक़ी पलंग वग़ैरह सब वकील साहब को दे गया। फ्री दे दिया। उनके भांजे वग़ैरह आयेंगे तो इस्तेमाल करेंगे। बाक़ी सामान मेरा बहुत था, ख़ास करके किताबें। और सामान सब इतना था कि—मेरे ख्याल से एक क्विंटल तो उस पेटी का वज़न होगा ही। सब ड्रामे थे और···यही धंधा था। कुछ किताबें मैंने एक राठी थे, उनको दे दिया। कलकत्ते में मेरे रहते जो किताब निकलती थी, वह मुझे फ्री मिलती थी। इस तरह मैं गया तो फिर एक हफ़्ते बाद क़ौल साहब ने··· क़ौल साहब के लिए तो यह बेहतरीन मौक़ा था कि कम्पनी बन्द हो गयी। वो बीस साल तक कम्पनी को बन्द करने की सोचते ही रहे पर कुछ हुआ नहीं। ख़ैर उसके बाद उन्होंने सबको नोटिस दे दिया और पन्द्रह दिनों बाद—ऐसा क़ानून था—कम्पनी बन्द कर दी। सबका पैसा-पैसा दे दिया और सब रुख़सत हो गये। दो-तीन आदमी थे, बहुत बुड्ढे। एक तो मम्मद भाई था जिसने सीता को भी पढ़ाया था। नब्बे बरस की उमर थी उसकी। मैंने कहा—'बाबूजी यह कहाँ जायेगा ? बोले—'उनकी फिकर मत क़ीजिए।' उनका ट्रस्ट है उससे मम्मद भाई को तनख्वाह बाँध दी। एक चार्ली था, उसको गेट कीपरी में रख लिया। एक और थे उनको·· कुछ ही रोज रहें वो ज़िन्दा। मुझे भी एकज़माने में उन्होंने सूरदास का पार्ट सिखाया था। उनको एक तरह से मैंने अपने साथ ही रखा, हावड़ा में रहते थे। तो इस तरह से यह कहानी ख़त्म हुई, और कम्पनी मेरे ही कारण बन्द हुई इसमें शक नहीं। क्योंकि कन्ट्रोल करने का काम मुश्किल है। हर एक के बस का नहीं होता। उसमें रोब की भी ज़रूरत है, टैक्ट की भी जरूरत है। अब सुशीला थी, उसके सौ नखरे। तो मालिक तो ऐसे नहीं थे कि इन चीज़ों को बर्दाश्त करें। वो सब तो मेरे ही सिर को सुपुर्द था। वे कह देते थे—मास्टर जी उसको रोकिए।' उसकी नाजायज़ बातों को भी बर्दाश्त करना, उसको मनाकर रखना। लोगों को यह भी ग़लतफहमी हो जाती थी कि इनके ताल्लुकात हैं आपस में। ये तो बहुत दूर की बात है। ताल्लुक़ात के लिए तो गुंजायश थी नहीं। आप लोग दोनों बैठे हुए हैं, मेरी औलाद की जगह हैं। इस मामले में अपने को मैंने बहुत सम्हालकर रखा। एक तो बाप का भी क़ौल था वैसे मुझे भगवान के ऊपर बहुत श्रद्धा है। खुदा पर मुझे एतबार है। तो मेरा मुरूज़ इतना हो गया कि मुझे दिल में यह ख़ौफ़ था कि मैंने इधर कोई क़दम रखा और बेड़ा गरक हुआ। इस डर की वजह से भी नहीं तो मौक़े तो बड़े-बड़े आये ज़िंदगी में। मगर ये कि कोई सूरत से भी बचता गया और सम्हालकर रहा।

ऐसा कोई लांछन है नहीं ज़िन्दगी में। मूनलाइट में भी बीस साल में या उससे पहले कोरंथियन में उस तरह की बात नहीं आयी। और नशे-वशे का तो कोई सवाल ही नहीं। न बीड़ी का शौक़ न सिगरेट का। इस तरह से थियेटर लाइन के अन्दर, फ़िल्म लाइन के अन्दर गोया एक अलग आदमी गिना जाता था। जहाँ तक कलकत्ता की ज़नता का सवाल है, सस्थाओं का जैसे सीतारामजी बाबूजी थे, रामकुमार भुवालका थे बसंतलाल जी थे, सबकी नज़र में माकूल था। राम कुमार जी कभी-कभी आते थे। बाबू जी एक ही दफ़ा थियेटर में आये। थियेटर देखने नहीं आये बल्कि दशहरे पर तलवार की पूजा थी। लाला बाबू की सदारत में। उसमें मैंने इनवाइट किया था। उसमें खाली वो आये थे। बाक़ी बहुत सारे मारवाड़ी बड़ा बाजार के-दुकानवाले हैं, कटरावाले हैं, ये सब तो भरे पड़े थे। बराबर ही देखते थे। और लावनी सुनना। रोहतक और हरियाने की तर्ज़ों पर दो-एक गाने रखने पड़ते थे। डफ रखा जाता था। ढोला का म्यूजिक का बहुत अच्छा इन्तज़ाम रखा था। ट्रम्पेट भी था क्लारियनेट भी था, वायलिन भी था। और प्यानो भी था। तबले में ढोलक, तबला और डफ रहता था। डफ के ऊपर मारवाड़ी गाने उस रिदम पर होते थे। आरकेस्ट्रा स्टेज के सामने नीचे बैठता था। वहाँ भी उनके बैठने का ख़ाना ऐसा रखा हुआ था कि पब्लिक को उनके सिर नहीं दिखायी देते थे। उसमें बांसुरी में चन्द्रकांत था जो अभी लता के साथ है बहुत नाम हो गया है उसका' आलोक था जो अब आल इण्डिया रेडियो में है। अच्छी टीम थी। क़रीब १२ म्यूज़िशियन रहते थे।'

'म्यूजिशियन्स को आम तौर पर कितना पैसा दिया जाता था ? उनको भी महीना दिया जाता था ?'

'हां हां सब को। सब परमानेंट नौकर थे। कई ऐसे थे कि उनको शूटिंग में जाना पड़ता था तो मालिक को ख़बर नहीं हो, ऐसा करते थे। मुझसे वास्ता था। कभी दिन में शूटिंग होता था तो वो स्टूडियो में बुलाये जाते थे। मैं छुट्टी दे देता था। कभी शो से भी छुट्टी दे दी किसी को, तो प्यानो पर चन्द्रकांत को रिदम के लिए बैठा दिया। तो ये फ़िल्म स्टाइल पर ही रखा था हर नाटक में।'

फ़िल्म स्टाइल से क्या मतलब आपका ?'

'जैसे फिल्म में म्यूज़िक चलता है, उसके टुकड़े होते हैं वो सब। उसमें उसी तरह से गाने फिट करता था। गाने की तर्ज़ें जो बनती थीं वो अमर सिंह जैसल था'''क्लैरियनेट बहुत अच्छा बजाता था। तो वो और मैं और सुभान मास्टर था, हारमोनियम मास्टर हम लोग बैठकर तर्ज़ें फ़िट करते थे। ज्यादातर मैं। जो अच्छी फिल्म की तर्ज़ें होती थीं उनके टुकड़े ऐसे चुना करता था और फिट करता था कि पब्लिक का ध्यान ही नहीं जाता था कि फलाँ फिल्म का है। लेकिन ज्यादातर मैं

टुकड़े चोरी करता था। जैसे मिसाल के तौर पर—"माभी अलबेले" एक गाना चला था किसी फिल्म का। उसको ले लिया—"हम निर्गुन हैं, गुणवान हो तुम" पर फिट कर दिया। इस तरह से कोई फिल्म का टुकड़ा अपनी तर्ज में फिट कर दिया। जब काम करते थे तब सब याद था, अब पुराने गानों की तर्ज़ याद नहीं आतीं। वो अलाउद्दीन का चिराग़, वो सब भी दिमाग़ में थे वहां। उनमें से कोई टुकड़ा ले लिया तर्ज़ का जहां तक सवाल है। दस बारह गानों में मारवाड़ी भी, हिन्दी भी, इस तरह से रखकर के गोया पब्लिक की पसन्द···।"

"एक बात पूछने का मन कर रहा है कि क्या धुनें चुरा-चुराकर ही गाने बनते थे या कोई ऐसा स्वर देनेवाला था जो स्वतंत्र रूप से भी स्वर दिया करता था ?"

"थे न हकीम साहब थे हिज मास्टर्स वायस में। ट्रम्पेट के प्लेयर थे। वो अच्छे म्यूजिक डाइरेक्टर थे, वो भी थे। ज्यादातर मेरा ही हिस्सा होता था तर्ज़ों के अन्दर में।"

"गीत पहले से लिखवा लेते थे फिर तर्ज़ देते थे या तर्ज़ ध्यान में आई, तब उसके अनुसार गीत लिखवाया ?"

"नहीं, नहीं। गीत लिखता था, वो कमल एक लड़का और रामसिंह था बहुत अच्छा। जल्दी से गाना लिखता था उसमें शेर-ओ-शायरी हिन्दी में···गोया जो पब्लिक की पसन्द के बोल होते थे। डूयेट गाने भी थे। हर खेल में बारह गाने, दस गाने ज़रूर होते थे। ढाई घण्टे का तो प्रोग्राम ही होता था उसमें म्यूज़िक का बहुत अच्छा हिसाब रखा था। इलेक्ट्रिक गिटार वग़ैरह सब रखा था।"

"अच्छा। अभिनेत्रियाँ तो गाती ही थीं पुरुषों में कौन-कौन थे गानेवाले आपके मूनलाइट में ?"

"पुरुषों में एक रहमान लड़का था कॉमिक में, गाता था। जिनकी आवाज़ इतनी अच्छी नहीं थी, उनको भी गाना पड़ता था। झा जी है, खास नहीं है, फिर भी गा लेता है। औरतों में तो सभी गानेवाली थीं।"

"कॉमिक का कोई अंश आपको याद है क्या ? नैचुरली, कॉमिक में तो हास्य प्रधान संवाद रहते रहे होंगे।"

"सब किया-धरा तो मेरा ही है लेकिन इस समय ख़याल ही नहीं आ रहा है।"

"आपको इतना ख़याल है, यही बहुत है।"

"हाँ। नहीं···इस बखत···वो पहले का याद तो है लेकिन अब एक कमज़ोरी यह हो गयी है कि मेरे कान में अब थोड़ा सा फरक हो गया है। अब आप जितना साफ़ सुन सकते हैं उतना मैं नहीं···थोड़ा कष्ट हो गया है। कुछ बहरापन हो गया है। थोड़ा। दूसरी बात यह है कि मैं किसी काम को याद किये हुए हूं अभी, एक मिनिट

बाद यह दिमाग से निकल जायेगा। पहले यह बात नहीं थी। जो दिमाग में तै कर लिया कि कल ये-ये काम है, वह याद रहता था। अब मुझे नोट करके रखना पड़ता है। नोट करके रखना पड़ता है कि किनसे मिलना है। मैंने मुरादाबाद में ही नोट कर लिया था कि ये ये हैं। जिनसे मिल लिया, उनपर निशान दे दिया। याद नहीं रहता अब। यह एक कमज़ोरी है, अब आपसे क्या छिपाऊँ। इधर आन करके हो गयी है। भूल जाता हूं।"

"उम्र के साथ थोड़ा स्वाभाविक है। अच्छा, आप बंगला नाटक देखते थे, उस समय ? क्या उससे आपको अभिनय में कोई सहायता मिलती थी ? या आप उससे आइडिया लेते थे ? स्टाइल या आइडिया···।"

"सभी देखता था। जहां तक मेरा ताल्लुक़ है/ख़ाली चिल्लाने के ख़िलाफ़ था मैं बिलकुल। और जैसे कि शेक्सपियर के ड्रामों की नक़ल की पारसियों ने तो शेक्सपीयर के ड्रामों की नक़ल तो की लेकिन वहाँ पर जो ड्रामे की स्टाइल थी बोलने की वह नहीं ली। शेक्सपियर के स्टेज पर ख़ाली चिल्लाना नहीं था। वहाँ भी आवाज़ का उतार-चढ़ाव अंग्रेजी ड्रामों में था। उसकी नक़ल नहीं की लेकिन सोहराब जी सेठ इस चीज़ के बिलकुल वो थे कि चिल्लाना ही न हो बल्कि सुरों का उतार-चढ़ाव, जहां ज़ोर देकर बोलना हो वहां ज़ोर से, जहां स्वाभाविक तरीक़े से बोलना हो वहां वैसे। ऐसा उनका डाइरेक्शन था। मैंने भी उस चीज़ को अपनाया/और मुझे दो आदमियों के काम का बहुत ज्यादा आइडिया है। एक तो दुर्गादास बैनर्जी। मतलब इतना करेंट होना चाहिए बोलने में भी कि उसमें पब्लिक को खींच ले अपने साथ ही। आप अगर देखतीं तो वाक़ई आपको भी ख़याल आता कि ऐसे भी ऐक्टर होते हैं। ज़बरदस्त और नैचुरल जिसको कहते हैं, जिसमें जरा भी बनावट न हो वो छवि विश्वास थे। क्या बात है। उनका वो "दुइ पुरुष"। उनका तो मैं क़ायल था। इतना क़ायल था कि भगतसिंह का पार्ट जब मुझे मिला तो मैंने उनसे कहा कि "इसमें मुझे बताइये।" तो ड्रामा सुनने के बाद बोले—"मैं क्या बताऊँ। इसमें तुम्हें ज़ोर से बोलना ही पड़ेगा। भगतसिंह है।" वो मुझे अपना भाई जैसा मानते थे, बड़ा प्रेम था। क्योंकि जब मैं "भारत लक्ष्मी" में था और हिन्दी पिक्चर बनना बंद हो गया था, तो बाबू लालजी ने और हिन्दी ऐक्टरों को तो छोड़ दिया, मुझे नहीं छोड़ा, रखा अपने साथ। असिस्टेंट प्रोडक्शन मैनेजर बना दिया था मुझे। बंगला पिक्चर बनते थे। "आवर्तन" में तो मैंने ठुमरी भी गायी है। वो तवायफ़ के कोठे का सीन है उसमें। जैमिनी मित्तल ने पिक्चर बनाया था। किराये के स्टूडियो में। तो वो सबसे कहे-चलो तुम भी कुछ कहो। दो शेर गाये थे, याद है।

"अब रसिया दो नैना तरस रहे।
दो नैना तरस रहे ओ रसिया।"

इस तरह की ठुमरी उसमें गाई है। और बहुत सारे पिक्चर बने 'सरला' ड्रामा था बंगाली स्टेज का ड्रामा था। उस सबके पिक्चर बने। अहीन्द्र बाबू, मनोरंजन भट्टाचार्य, प्रभा और छविबाबू जितने भी आर्टिस्ट आते थे पिक्चर में उनको मैं इतना आराम देता था कि गद्दे-वद्दे बिछाकर रखता था, ठण्डे पानी का इन्तज़ाम। मतलब यह कि वो बहुत खुश थे कि प्रोडक्शन मैनेजर की तरफ से जो सुख मिलना चाहिये वो उन सबको मैं देता था। क्योंकि इनके ड्रामे मैं देखता था, मुझे इनसे मुहब्बत थी। बाद में भी मुझे बहुत प्यार किया उन्होंने लेकिन एक बीमारी मेरे अन्दर थी, वह अब तक भी है। कितने ही सिनेमा हैं कलकत्ता में। उनके आदमी मुझसे पास लेकर के हमारी कम्पनी के ड्रामा देखने आते थे, वो देखते थे लेकिन मैंने बग़ैर टिकट लिए किसी फिल्म को कभी नहीं देखा। छुप के भी जाता था, पैरेडाइज है, रॉक्सी है। कई सिनेमा ऐसे थे। गणेश-टाकीज है, कृष्णा है, वहां पर छुपकर टिकट मंगा लिया और छुपकर देख लिया। क्योंकि वो देखें तो कहें—"यह क्या।" तो यह आदत है। मुरादाबाद में भी अमन कमेटी की वजह से कोई भी सिनेमा मेरे लिए खुला हुआ है लेकिन मैं जाता ही नहीं हूं। आपको यक़ीन होना चाहिए, मैंने तीन ही पिक्चर देखे हैं पन्द्रह साल के अन्दर। एक तो "मुग़ले आज़म"। एक "पाकीज़ा" एक पिक्चर और देखा जब चड्ढा पैलेस नया बना तो उसकी ओपेनिंग सेरेमनी में कुलबन्त सिंह सरदार हैं बहुत बड़े, उन्होंने इनवाइट किया। धर्मेन्द्र और हेमामालिनी का पिक्चर था। बस ये तीन पिक्चर देखे हैं। बाक़ी बच्चों को कभी-कभी ज़ोर देकर कहता हूं कि अरे भाई जाओ। दामाद भी हैं, सबको भेज देता हूं। वो भी टेलिविजन की वजह से—

"आप देखने क्यों नहीं जाते हैं ?"

"कहानी अच्छी नहीं लगती। कहानियां जो पहले देखी हुई हैं शांताराम की वैसी अब कहां। देवकी बाबू का डाइरेक्शन, बरुआ साहब का ख़ास करके बहुत पसन्द था मुझे डायरेक्शन भी और उनका ख़ुद का काम भी। महबूब का पिक्चर, सब देखा था मैंने। शांताराम का तो कोई पिक्चर नहीं छोड़ा। वैसे इंग्लिश पिक्चर का बहुत शौक़ था। कलकत्ते में जब तक रहा, हफ्ते में एक इंग्लिश पिक्चर ज़रूर देखा। जो भी अच्छा पिक्चर आता था और आता ही था कोई न कोई पिक्चर। जितने अच्छे पिक्चर हुए अंग्रेजी के, सब देखे।"

फिदा हुसैन साहब पल भर को रुके। फिर बोले—"अब उस ज़माने के फिल्म के लोगों की क्या-क्या बात बतलाऊँ। एक से एक डायरेक्टर, एक से एक कलाकार। क्या रोब और क्या ऊँचे दर्जे की कला। देवकी बोस का क्या बोलबाला था उस वक़्त। उनका तो बड़ा ज़बरदस्त रोब था। शूटिंग होती थी तो बड़ा से बड़ा कलाकार भी डिसिप्लिन नहीं खोता था। और बरुआ साहब तो ऐसे थे जैसे···मैंने उनको ख़ुद देखा। दिल भर आता है। ऐसा अच्छा आदमी पैदा नहीं होगा। और

कलाकार भी इतने अच्छे। मुक्ति वग़ैरह भी देखा हमने, आपने नहीं देखा होगा। पिक्चर में क्या पार्ट किया। ये दिखाया कि शराब जब ज़्यादा पीता है आदमी तो गिरता पड़ता नहीं है। मतलब ये चीज़ उनकी खास थी। वैसे सब का काम हमने देखा—"

"आप ऐक्टिंग करते थे या गाना गाते थे? और किन-किन फिल्मों में काम किया आपने?

"ऐक्टिंग। रामायण में पहले काम किया हमने एक पुजारी का। हम जब आए तो कैरेक्टर का चुनाव हो चुका था। राम, लक्ष्मण और सब का। लेकिन फिर भी बाबूलालजी चोखानी की इच्छा थी तो हमको रखा और एक कैरेक्टर मेरे लिए पैदा किया। पण्डित सुदर्शन बहुत बड़े लेखक थे। वो वहीं थे। प्रफुल्ल राय डायरेक्टर थे। प्रफुल बाबू हमारे फिल्म के पहले उस्ताद थे। उसके बाद दूसरे चारु राय। चारु राय तो उनके भी उस्ताद थे। प्रफुल्ल राय के साथ खाली एक ही पिक्चर में काम किया—"रामायण" में। दो सीन का पार्ट था। गाना था उसमें, उन गानों की खातिर ही आया था। उसके बाद बना "मस्ताना" पिक्चर। उसका चारु बाबू ने डायरेक्शन किया। उसमें मैं ही हीरो था। मुझसे वो बहुत प्यार भी करते थे और मुझे अक्सर कहते 'लुच्चा-लफंगा। चलो, सेट पर चलो।' बहुत प्यार से। बहुत अच्छे आदमी थे। "मस्ताना" में काम किया, हीरो बना। मास्टर गामा हमारे साथ थे ओर लीला नाम की लड़की थी। मुसलमान थी, लाहौर से लाये थे। हिन्दू नाम दे दिया। बाद में उसने बम्बई टाकीज में 'भाभी" पिक्चर में काम किया। सिल्वर जुबली हुई उस पिक्चर की। तीसरा पिक्चर था "इन्साफ़" जिसमें हमने काम किया। बनवारी किसान था। वो पब्लिक के बड़े फेवर का कैरेक्टर था। उसमें तीन गाने थे। एक गाना चंग के ऊपर था। कोई साधु आये थे बाबूजी के यहाँ भीख मांगने के लिये तो वो गाना उनको पसन्द आ गया। हमसे कहा कि तुम सीखो इस गाने को। वही गाना रखा। घोड़ा पकड़ कर गाता है "तुम मालदार कंगला हूं मैं, है रूह एक तकदीरें दो।" पब्लिक को बहुत पसन्द आया था वह गाना।·····चौथा पिक्चर "डाकू का लड़का" था। चारु राय ने ही डायरेक्शन किया उसमें। हम सेकेन्ड हीरो थे। और पांचवां पिक्चर था "दिल की प्यास"। उस पिक्चर का निर्देशन सोहराब मोदी ने किया। लेकिन उसमें दखल था चारु बाबू का। "दिल की प्यास" भी बहुत अच्छा रहा। उसको फिर बंगला में किया बाबूलाल चोखानी ने "जीवन संगिनी" के नाम से। खूब चली ये पिक्चर। "दिल की प्यास" के बाद "खुदाई खिदमतगार" में हमारा बहुत अच्छा कैरेक्टर था। बादशाह के सेनापति का रोल मैंने किया। बादशाह मुसलमान है लेकिन सेनापति हिन्दू है। बादशाह को सेनापति के ऊपर बहुत भरोसा था। वो शहर की ख़बर रखता

था कि कहीं कोई ज़ुल्म तो नहीं हो रहा है। वो दाढ़ी का मेरा फोटो है न ? उसी का है। सेनापति फ़क़ीर बनकर सदा गाता हुआ मुहल्लों में रात को जाता था—"दे दे ख़ुदा के नाम पर बाबा ताक़त है कुछ देने की रे।" वैष्णव जन की तर्ज पर था। नागर भाई ने इस तर्ज पर गाना फिटकर दिया था। उसके बाद "मतवाली मीरा"। रैदास का पार्ट किया। वह पार्ट के० सी० दे करने वाले थे। उन्होंने पैसा बहुत माँगा था तो उस पार्ट को मुझको दे दिया गया। उसमें दो मेकअप करने पड़े। छोटी उम्र की मीरा के साथ काली दाढ़ी में। फिर जब मीरा बड़ी हो जाती है तो फिर सफ़ेद दाढ़ी में। मुख्तार बेगम मीरा बनी थीं।

"इसके बाद नम्बर आया नौटंकी का। चार रील की हमने एक फिल्म बनाई नगाड़े की धुन पे। नगाड़े की जो पहली चोट पड़ी तो बल्ब फ्यूज़ हो गया। वो आया दौड़ा दौड़ा—समर घोष थे " अरे बाबा की होच्छे। बल्ब फ्यूज हो गया। तुम काहे को···नगाड़ा···माफ़ करो।" हमने कहा "नगाड़ा तो जरूर रहेगा"। तो बोले "अच्छा, जरा सम्हाल कर बजाओ। हमको मालूम नहीं था। हम कन्ट्रोल भी करेंगे।" तो चार रील की नौटंकी की फिल्म बनाई। उसमें बसन्ती चूरूवाली (राजस्थान) थी। गिलास में बरफ का चूरा डालकर और पी कर फिर आवाज़ लगाती थी। मालूम होता था आसमान से आवाज़ आ रही है उसकी। हमारी भी··· ··· जवाब सवाल था हम दोनों का। चौबोला, लावनी वग़ैरह।"

"अच्छा, ये चौबोला क्या होता है ? श्री अमृतलाल नागर ने कई जगह अपने उपन्यासों में चौबोला का इस्तेमाल किया है। यह क्या होता है ?"

"चौबोला यों होता है, , ," अव्वल सिफत रसूल की सुन मालिक कौन है।
सामरदा के लाल हैं हसन और हुसैन
मैं सिफतनों की, ए जी मैं सिफतनों की कहता हूं जो नूर नदी के प्यारे हैं
खास खुदा के प्यारे हैं और हिम्मत के रखवारे हैं। वग़ैरह···वग़ैरह। तो चौबोला इस तरह का होता है।

"फिर धीरे-धीरे फिल्म छूटी। दरअसल मेरा मन तो थियेटर में बसता था। थोड़े दिनों का दाना-पानी फिल्म का था सो हो गया। मैं फिर लौट आया थियेटर में।"

हमने टेप रिकार्डर का बटन दबाया। काफी देर हो चुकी थी। हमें लगा हम ज़्यादती कर रहे हैं फिदा हुसैन साहब के साथ। इस उम्र में घंटों बैठाये रखते हैं, बोलते चल रहे हैं—बीच में न चाय न पानी। पर उपाय क्या था ? उनके बातों का, अनुभवों का ख़जाना भरा था। और सुना ऐसे रहे थे जैसे क़िस्सा-कहानी सुना रहे हों। हम तो बीच-बीच में भूल ही जा रहे थे कि रिकार्डिंग हो रही है। हमें लगा

अब इस बूढ़े आदमी को बख़्शना चाहिए पर मन में यह भी ख़्याल था कि अभी तक पारसी थियेटर के संगीत के बारे में तो विस्तार से बातें हुईं ही नहीं। हम चुप थे। सोच रहे थे कि कुछ कहें कि न कहें कि वे खुद ही बोले—"आप लोग किस फ़िक्र में पड़ गये? मेरी उम्र को देखते हुए मुझपर तरस खा रहे हैं कि कितना हैरान करें इस बूढ़े को? कोई फिकर मत कीजिए। जो पूछना है पूछिये बड़ी ख़ुशी से। मैं तो चाहता हूं कि मेरे पास जो कुछ भी है वह मैं दूसरों को दे जाऊँ। संगीत की चर्चा रह गयी है अब इस उम्र में गला तो नहीं चलता पर हाँ, जितना चलता है उससे धुनें सुना भी दूँगा और बातें भी बता दूँगा। पर हां, अब कल।"

अगले दिन हम लोग फिर बैठे। साथ में श्रीमती गीता सेन भी थीं। वे बंगला रंगमंच के संगीत को लेकर विशेष अध्ययन कर रही हैं। यह कहने पर कि आप अपने संगीत प्रधान नाटकों के बारे में बतलाइए, फिदा हुसैन साहब बोले—

"उस ज़माने के तो सभी नाटक संगीत प्रधान होते थे। नाच-गाने के बिना पब्लिक का मनोरंजन कैसे हो? हम तो जिस तरह लोगों में फैली कहानियों पर नाटक बनाते थे वैसे ही लोगों के पसन्द की धुनों को लेते थे। फिल्म के आ जाने के बाद जो गाने लोगों में ख़ूब चलते थे उनकी धुनों पर हम बोल फिट कर लेते थे। कभी पब्लिक को मूल गाना समझ में आता था नहीं। वह ऐसे गानों को बहुत पसन्द करती थी।"

"आपके कहने का मतलब कि फिल्म की नक़ल पर ही पारसी थियेटर में धुनें चलती थीं, अपने आप अलग से धुनें नहीं बनायी जाती थीं?"

"मैं एक दिन पहले भी बता चुका हूं कि अलग से भी धुनें बनायी जाती थीं। कई अच्छे अच्छे म्यूज़िक मास्टर थे। वे धुनें बनाते थे पर अपने ड्रामों में ज़्यादातर धुनें मैं ही देता था और वो हिंदी फिल्मों के पापुलर गानों की धुनों की नक़ल होती थीं"।

"इसका एक और अर्थ हुआ कि धुनें पहले तै हो जाती थीं और फिर उन पर बोल फिट कर दिये जाते थे।"

"हाँ, ज़्यादातर यही होता था। वैसे बहुत से गाने पहले भी लिखे जाते थे पर ज़्यादातर धुनों पर फिट किये जाते थे।"

"ये गाने सिचुएशन से जुड़े होते थे या ऐसा कि कोई आया और गाकर चला गया?"

"नहीं। सब सिचुएशन से जुड़े होते थे। ड्रामे चलते-चलते जब आता था गाने का मौक़ा, तभी गाना शुरू होता था। जैसे कृष्ण-सुदामा नाटक में सुदामा की स्त्री ने जब कहा कि—"भोजन ही जब नहीं है, थाली का क्या काम है" तो पड़ोसन कहती है कि "अच्छा, तो अपनी ओढ़नी का पल्लू फैलाओ, उसमें चावल डाल दूँ। "तो ब्राह्मणी गाती है" ये मेरी ओढ़नी क्या है, मेरे दिल का नमूना है।" तो इस तरह गाना रखा जाता था। सन् १९३१ में गाँधीजी का आंदोलन चलता था अंग्रेजों के ख़िलाफ़। उस ज़माने में एक गाना निकला था—"वतन" में। हीरा बाई बहुत मशहूर ऐक्ट्रेस थीं। एलेक्जेंड्रा कंपनी थी देहली में, उसमें एक गाना चला था—

ख़ुदा ये कैसी मुसीबतों में, ये हिन्दवाले पड़े हुए हैं
क़दम क़दम पर हमारी ख़ातिर, सितम के जाले पड़े हुए हैं।
हमारे मेहमां जो आये बनकर, वो ज़ुल्म करने लगे हमीं पर
ग़ज़ब है अपने मकां के बाहर, मकानवाले पड़े हुए हैं।
हज़ारों बच्चों से आप बिछड़े, वो गनमशीनों से होके टुकड़े
सोहागनों के सोहाग उजड़े, घरों में ताले पड़े हुए हैं।

"तो जब अंग्रेजों के ख़िलाफ़ आंदोलन चल रहा था, उस समय यह "वतन" ड्रामा भी चला पर यह गाना तो पूरे हिन्दुस्तान भर में पब्लिक गाने लगी थी। ज़माने की बात है, सिचुएशन की। पब्लिक भी उस वक्त कांग्रेस के साथ थी, ज़ोरों में आन्दोलन चल रहा था तो यह गाना बहुत मक़बूल हुआ। एक नाटक में हमारा एक डूएट गाना था। दो दोस्तों का। एक दोस्त अमीर है दूसरा ग़रीब है मगर दोनों की बहुत अच्छी दोस्ती है तो एक दोस्त कहता है—

मतलब की अंधी दुनिया में कौन किसी का साथी है
घुप्प अंधेरा देख के अपनी छाया भी छुप जाती है।"

दूसरा दोस्त जवाब देता है—

"किसको साथी कहते हैं यह साबित कर बतला दूंगा
जहां पसीना तुम दोगे मैं अपना ख़ून बहा दूँगा।"

"दोनों के जवाब-सवाल चलते हैं। यह तर्ज मैंने ली थी—रमेश सहगल ने एक पिक्चर बनाया था "स्टेशन" जिसमें पहले-पहल सुनीलदत्त आया। स्टेशन का सीन था, ट्रेन रुकती है वहीं पर तमाम गाने-वाने होते हैं। उस तर्ज के ऊपर मैंने अपने बोल लिखकर के यह गाना गाया था। यह ड्रामा मैंने निकाला था शायद सन् ५५ में मूनलाइट में। नाम था "इन्सान चाहिए"। उसी में ये गाना था दोनों का। बहुत अच्छा चला यह गाना—लम्बा। बहुत सारे बोल हैं इसके। वो कहता है—

"कथा सुनी होगी तुमने राणा प्रताप और भामा की
भारत के हर घर में चर्चा होती कृष्ण सुदामा की।

कसम उन्हीं सच्चे मित्रों की साबित कर दिखलाऊँगा
जहां पसीना तुम दोगे मैं अपना ख़ून बहाऊँगा।"

"इसी तरह के जवाब सवाल थे गाने के। एक पुराना नरसी मेहता का वो गाना बहुत ज्यादा मक़बूल हुआ वो भी—एक पुराना लोकगीत था—

"छोटी बड़ी सुइयां रे जाली का मोरा काढ़ना।"

"उसी तर्ज को लेकर मैंने बोल लिखे थे—

'कहना मेरे मन की बात मोहन से जाके
कहना मेरे मन की बात ठाकुर से जाके।
नेहा लगाके काहे भुलाया
क्यूँ तड़पाया क्यूं रुलाया
कहना इस टूटे दिल की बात मोहन से जाके।'

इसमें शेरो शायरी चलती थी। गाना बहुत मक़बूल हुआ। कहता है—

'ऐ पत्रिका घनश्याम से कह देना तूं ये बैन
तुम इतने निठुर हो गये हो छीन के सुख चैन।
दुश्मन हुआ है दिन मेरा बैरन हुई है रैन
है दिलका रूप बन गये रोकर अभागे नैन।
कहना मेरे मन की···कहना मेरे मन की बात···'

"किस साल में हुआ नरसी मेहता ?"

"नरसी मेहता हुआ सन् ३९ में जब लड़ाई शुरू हुई, दूसरा विश्वयुद्ध। कोरंथियन में चार नवम्बर धरमतल्ले में। वह ड्रामा पास हुआ और हजारों नाइट हिन्दुस्तान के तमाम शहरों में हुआ। आपको कृष्णलीला के गानों की बात बतलाऊँ। नाटक भी खूब चला और इसके गानों के पीछे तो पब्लिक पागल रहती थी। एक सीन था कि कृष्ण और राधा की बातचीत चल रही है कि इतने में सहेलियां आ जाती हैं—गोपियाँ। वो उसको ले जाना चाहती हैं। वो जाना चाहती नहीं उनके साथ में, प्रेम में बन्धी हुई हैं। तो गोपियां गाती हैं—

'धीरे धीरे चलो न राधा प्यारी
काहे मतवारी बनी हो, काहे गुणकारी बनी हो।"

राधा—'परत कांकरी तनिक सी होत जिया बेचैन
वे व्याकुल कैसे भये, जिन नैनन में नैन॥'

गोपियां—'काहे मतवाली भई हो···चलो मतवारी भई हो···'

ख़ैर गोपियां उसको लेकर चली जाती हैं। ऐसे ही इस नाटक में यशोदा और कृष्ण का बड़ा फेमस डुएट था खूब चला। गाना तो पुराना भजन सूरदास का था, उसी को लिया था। उसमें मैंने जवाब जोड़ दिये, खुद लिखा था। सीता देवी यशोदा

बनती थीं और कनकलता कृष्ण। इस गाने का किस्सा सब पहले सुना चुका हूं कि कैसे यह सीन पूरे एक घन्टे चलता था और पब्लिक पागल रहती थी इस सीन के लिए। पूरा सीन जवाब-सवाल में चलता था। उन दिनों एक और गाना खूब चलता था—"तन डोले मेरा मन डोले", नागिन पिक्चर में उसी की तर्ज पर मैंने बोल फिट किये।'

'सुन रसिया, मेरे तन बसिया मोपै प्रेम की बोली बोलरे
बरसानेवाली गूजरिया।'

"राधा कृष्ण का डूएट था। खूब चला। इस तरह फिल्म में जो गाना चलता था उस पर मैं बोल लिख लेता था।"

"यह तो बहुत बाद का गाना है?"

"हाँ, बाद का गाना था।"

"वही सुर ले लिया था?"

"हां, वही सुर। 'परिवर्तन' में—सोशल ड्रामा निकाला था—१९२२ का ज़िक्र है। उसमें ग़ज़ल मैं ही स्टेज पर गाता था। हिन्दी की वो ग़ज़ल पूरे हिन्दुस्तान भर में सबकी ज़ुबान पर आ गयी थी। वो थी—

जाने क्या क्या है छुपा हुआ सरकार तुम्हारी आंखों में
विष और अमृत दोनों का है भंडार तुम्हारी आँखों में।।
तुम मार भी सकते हो पलमें तुम तार भी सकते हो पल में
ऐसे काले गोरे रंग का है तार तुम्हारी आँखों में।।

इसी नाटक में एक और गाना इतना मशहूर हुआ था कि पूरे हिन्दुस्तान में हिन्दू घरों में औरतें भी गाने लगीं उसको और वो आज तक भी है :—

'निर्बल के प्राण पुकार रहे जगदीश हरे जगदीश हरे।
सुख दुखों की चिंता है नहीं, भय है विश्वास न जाय कहीं
यह मधुर बोल गुंजार रहे जगदीश हरे जगदीश हरे।।'

"आँख का नशा' का भी एक गाना बहुत पास हुआ—वो सिचुएशन के ऊपर था। उसको वेश्या के घर में आकर बहुत समझाता है उसका भाई और कहता है कि—घर चलो, तुम्हारा यह काम नहीं है। वो उसको बहुत समझाता है पर वह नहीं मानता तो वो उससे कहता है—

'सुनो, यह सुख नहीं आँख का नशा है
पीया जो यह विष बुरा करोगे
तुम अपने हाथों से अपना बेड़ा
डुबाओगे और क्या करोगे।
टकों से जब जेब होगी खाली
सुनोगे बाई जी की गाली

गले में ग़ैरों के हाथ डाले
हँसेगी वो, तुम जला करोगे ।।

"इस तरह चलता था यह गाना। कलकत्ता में बहुत चला। और....."

"यह भी पारसी थियेटर में ही था ?"

"हाँ। मैं सब पारसी रंगमंच का ही बोल रहा हूं और किसी का नहीं। "जैसे 'भारती बालक' में वालंटियर हैं दो भाई—सोना-रूपा। वो कहते हैं—

'धर्म देश है कर्म देश है, देश को भूल न जाना। देश को...
भारत की संतान अगर हो भारत के काम आना। भारत...
भारत ही वह डाली है जिस डाली में तुम फूले...
कली से जिसने फूल किया उस भारत को क्यों भूले।
इस जग में है धर्म तुम्हारा
तलवारों की छाया में भी माता के गुण गाना
धर्म देश है .. ..."

"आप थोड़ा रेस्ट ले लीजिए, स्ट्रेन पड़ता न।"

"हाँ। अब आवाज़ और सांस में बड़ा फर्क़ पड़ गया देवी। तिरासी बरस की उमर में आन करके अब वो मामला नहीं रहा।"

"आप इतना नियम में रहते हैं इसलिए इतना भी है।"

"अहमदाबाद में यह गाना ख़ूब पसन्द किया गया—

'एरी मोहे चैन न आये ए दैया
फड़क रही अँखियां आली।
सगरी रैन मोहें तड़पत बीती
जिया घबराये कछु न सुहाये।'

"दूसरी चीज सुनिये। गुणकली में है।"

"यह कौन से नाटक का था ?"

"रुक्मिणी-मंगल का। रुक्मिणी गाती है।"

"कौन साल, याद है ?"

"साल है १९२५। बनारस में नाटक हुआ था। और यह है "हिन्दू विधवा" नाटक का गाना। सन् १९३० में नाटक निकला था। गुणकली की चीज है—'काल चक्र है अति बलवान।

सुर नर मुनि की गति ही क्या है
हारे जिससे हैं भगवान ।।
हुए जगत में कितने ज्ञानी
कलावान गुणवान।

रैन दिवस के दो पाटों में
पिसकर पहुंच गए समशान ।।'

"किसी कैरेक्टर की, हिरोइन की, एन्ट्री रखी जाती थी तो वह किसी राग में ही बँधती थी जैसे उत्तरा का गाना है। जब अभिमन्यु की मृत्यु के बाद समशान में आती है सती होने के लिए तो—

"टूटी हाय मौपै बिजुरिया मोरी दैया।
मौत नहीं आये तन जर जाये
दारुण बिपत पड़ी मोरी दैया ।।"

"एक और गाना है, सहेलियों का गाना—

'छलक न जाये गोरी गगरी।
जमना के तीरे चलो सब धीरे
गोरी गोरी ब्रज छोरी···गगरी।"

"घाट पर पानी के लिए जाती हैं, तब का यह गाना है। फिर आता है—"

"एक बात और पूछूं। औरत का रोल पहले जेन्ट्स लोग करते थे। औरत औरत का रोल करने लगी—यह कब से शुरू हुआ ?"

"ये शुरू हुआ है, मेरा खयाल है, सन् १९१०-११ में पहली औरत रखी गयी बिजली उसका नाम था। वालीवाला थियेटर में रखी गयी। सन् १० या ११ में। १० का ही मुझे खयाल है। बम्बई में। उसके बाद तो फिर एलफ्रेड में भी रही। रणजीत में जो गौहर है उसकी मां थी, पुतलीबाई एलफ्रेड में। वो दो बहनें थीं—एक बहन से थी जुबैदा जिसका अभी सम्मान किया गया है और उसकी बहन थी सुलताना। गौहर की मां थी पुतली। ये दोनों सगी बहनें थीं। उसके बाद तो फिर आहिस्ता-आहिस्ता दूसरी कम्पनियों में भी औरतें रखी जाने लगीं। बहुत सारी ऐक्ट्रेसें रखी गयीं, बड़े नाम भी किये। हिन्दी-पारसी रंगमंच में गौहर खूब मशहूर हुई। वह यहूदी थी, यहूदी मजहब माननेवाली थी। वह सबसे बड़ी ऐक्ट्रेस थी। मिस मेरी फैन्टम थी। एंग्लोइण्डियन, कूपर से भी पहले। कावसजी ने उससे शादी कर ली थी, जहांगीरजी उनका लड़का पैदा हुआ उससे। और उसके बाद सबसे अच्छी ऐक्ट्रेस मानी गयी। शरीफा। पहले जो मदर इण्डिया बना था उसमें भी रोल किया था शरीफा ने मैडन थियेटर में। इधर आन करके पारसी रंगमंच में सीता देवी सबसे फर्स्ट नम्बर रही। काफी दिन तक टिककर रही। यह कहना चाहिये कि कोई औरत इतनी नहीं टिकी हिरोइन के रोल में। अपनी आवाज़ भी सम्हाली, कैरेक्टर भी सम्हाला। हर तरीके से वह मजबूत रही और उसको पब्लिक बराबर बरसों तक पसन्द करती रही।"

"अंगूरबाला ?"

"अंगूरबाला तो हिज़ मास्टर्स वायस की आर्टिस्ट थी। वैसे स्टेज पर भी उसने काम किया है, पारसी थियेटर में राजा इन्दर बनती थी। बड़ा अच्छा ज़माना था उसका वो।"

"सीता देवी से पहले थीं ?"

"हां सीतादेवी से बहुत पहले और फिर बाद में तो एच० एम० वी० में हम भी थे, वे भी थीं। इन्दुबाला, अंगूरबाला, हरिमती, कमला, भरिया, हम लोग सब रेकार्डिंग में थे। क्योंकि वो हिन्दी में भी काम करती थीं और बँगला में भी।...तो सीतादेवी का बरसों तक बड़ा मान रहा। पब्लिक उनकी आवाज़ की वजह से उनको पसन्द ही करती थी। गाने के लिए उनको बहुत ज्यादा चांस दिया जाता था। गाने उनके रखे जाते थे ख़ास करके। हमारे और उनके डूयेट गाने तो मारवाड़ी भाषा में भी बहुत अच्छी तरह से चलते थे। "चलते-पुर्जे" का एक गाना है—

"डाल गरे बइयां मैं रोए रोए जानियां।"

"याद नहीं आ रहा है, ख़ैर। एक पंजाबी गाना बहुत अच्छा चला था।

"गोरीदा चित लगा चम्बे दियां धारां
चम्बे दियां धारा पैणे फुवारां
यारा दक नाल बहारां ।।
घर घर बिन्दलू घर घर टिकलू
घर घर बांकियां नारां ।।
लाव पतला अखियां बिच कजला
सूने ते जान मैं वारां ।।"

"किस नाटक का गाना है ?"

"चलता-पुर्जा का" ही। पंजाब में कम्पनी जाती थी सो एक-दो गानें पंजाबी रखे जाते थे, पब्लिक बहुत पसन्द करती थी। शुरू में सन् १८ में जब पंजाब कम्पनी गयी, मेरे रहने के बाद पहला सफर किया, तो वहां एक गाना चलता था पंजाबी। उसको नाटक में बग़ैर सुने पब्लिक मानती नहीं थी। गाना था—

'हवे जुती लेणियां सितारेवालियां
वे हरनाम सिंगा, आया राम, हवे तेरी जिन्द बिक जइयां
हवे तैणु ले दियां सितारेवालियां'

"पंजाबी गाने जो पब्लिक को पसन्द थे, सुनती थी। कोई न कोई, हर साल नया गाना निकलता था। कम्पनी जाती थी तो सुनाना पड़ता था। सफर में हम लोग गाते चलते थे बराबर।'' और फरमाइए, और क्या कहूँ ?"

आपके तो रेकार्ड भी बहुत सारे हैं ?"

"दो और रेकार्ड हैं ग़ज़ल के। सबसे पहले १९३३ में पहला रेकार्ड मेरा भरा गया। दाग़ शायर की गज़ल है, बड़े नामी शायर हैं।

"सुन सुन के मरना पड़ा हर किसी को।
नहीं मरते देखा किसी पर किसी को
न जाऊँगा तन्हा बहश्ते बरीं में
के ले जाऊँगा दिल के अन्दर किसी को"

"यह पहली ग़ज़ल है। एक साइड में यह थी। और दूसरे साइड में ताबिश लाहौरी की एक ग़ज़ल थी। बहुत ऊँची चीज़ थी।

"पहला रिकार्ड निकला और पास हो गया पर पहली गज़ल के लिए। दूसरी ग़ज़ल लोग ज़्यादा समझ नहीं सके, ऊँचा कलाम था। लेकिन पहली ग़ज़ल सरल थी और तर्ज़ भी अच्छी थी। उसके ख़ूब रिकार्ड बिके।"

"आपको तो इन रिकार्डों से आमदनी खूब अच्छी हुई होगी ?"

नहीं पहले तो तनख्वाह थी। ७० रु० दोनों साइड के मिल गये, ८० रु० मिल गये। बड़े से बड़ा गायक "इन्दुबाला" या "अंगूरबाला", सब को दोनों साइड के ८०/- और एक साइड के ४०/-। लेकिन के० सी० दे बाबू हमारे लीडर थे। उन्होंने कहा कि कम्पनी ६-६ लाख रुपये कमाती है और हमको ८० रु० मिले यह तो ठीक नहीं है। उन्होंने फिर कार्यवाही शुरू की। उस समय कपूर साहब था जनरल मैनेजर। दस हजार तनख्वाह होती थी जनरल मैनेजर की। बर्मा लंका सबका एक ही जेनरल मैनेजर होता था मतलब हेड मैनेजर। उससे जाकर मिले तो उसने कहा—"यह तो हमारे बस की बात नहीं है। लेकिन वास्तव में कम्पनी इतना रुपया कमाती है और कलाकार को कुछ कम मिलता है।" मतलब उन्होंने बात को समझा, फेवर किया बड़े ईमानदार आदमी थे। तो उन्होंने भी साथ दिया। मगर इस हद तक कि कम्पनी उन पर नाराज़ न हो। उनका हेड क्वार्टर लन्दन में था। वहाँ से बात हुई तो तीन महीने की कशमकश के बाद उन्होंनें पांच प्रतिशत रायल्टी दी बड़े कलाकारों को जैसे के० सी० दे बाबू वग़ैरह को। हम सब को ढाई प्रतिशत। पर के० सी० इतने पर भी चुप नहीं रहे। फिर वो शायर के लिए भी लड़े। और म्यूजिशियन और म्यूजिक डाइरेक्टर के लिए भी लड़े। और लड़कर उनका भी ढाई प्रतिशत करवाया। के० सी० दे को यह श्रेय है कि वे सब के लिए लड़े और उन्होंने सबको तैयार किया था कि मत करो रिकार्डिंग अगर नहीं मानें तो। लेकिन कम्पनी मान गई। अंग्रेज थे। जब इतनी कमाई होती है तो देना अखरता नहीं और मांग उचित थी गोया। तो उस वक्त जब रॉयल्टी मिलने लगी तो पैसे अच्छे आने लगे। मतलब उसमें ६ महीने के बाद चेक आता था पर आता ठीक था। एक बात और आप को बता दूँ कि अगर कोई कलाकार गांव में रहता था, हिन्दुस्तान के किसी और शहर में तो वहीं उसकी रॉयल्टी पहुंच जाती थी ६ महीने के बाद। इतना साफ़ हिसाब था।"

"अच्छा, आप लोगों ने तो कुछ नाटक भी रिकार्ड किये होंगे ?"

"जितने भी नाटक निकले हैं, उस वक्त से लेकर के ५० तक। बहुतेरे नाटक निकले चार रिकार्ड के, तीन रिकार्ड के, ६ रिकार्ड के। संयुक्ताहरण है। पृथ्वीराज है। सुभद्राहरण है। इस धरह के तीस। वो सब मेरे निर्देशन में निकले हैं। पहला ड्रामा कृष्ण अवतार निकला। फिर और और। पहले सारे रेकार्ड थे हमारे पास। एक रिकार्ड आर्टिस्ट को मिलता था। गाने के तो सब हमारे पास रहे लेकिन ड्रामे के रिकार्ड लोग हमसे माँग लेते हैं, फिर लौटाता कौन है। मेरे पास अब ख़ाली भगतसिंह ड्रामे का रिकार्ड है, मुरादाबाद में। ·····और फ़रमाइए ?"

हम फिर चुप। एक घन्टे से ऊपर हो चुका था। ऊपर जितने गानों का ज़िक्र हुआ है उन सबको गाकर फिदाहुसैन साहब ने सुनाया था। थोड़ा दम ज़रूर टूट रहा था पर बिना किसी साज़ के, सहारे के एक के बाद एक गीत गाते जाना मामूली काम न था। फिर कोई गीत २५ साल पहले का था कोई तीस। पर चूंकि वे बतलाने को तैयार थे सो गीता दी ने एक प्रश्न और पूछ हीं लिया—"हम लोग नौटंकी, स्वांग वग़ैरह नाम बराबर सुनते रहते हैं। इनमें गाने की दृष्टि से क्या अंतर है ?" झट उत्तर मिला—"नौटंकी में नगाड़ा ख़ास होता है। और नगाड़ा ऐसा कि आदमी को पागल बना दे। एक बार का वाक़या है, मैं बहुत छोटा था तब। हाथरस से नौटंकीवाले आए। उसमें नगाड़ा भी था और उसकी धुन का क्या कहना। इसके ऊपर तो आदमी फिदा ही था। रात के सन्नाटे में सो रहे हैं गर्मी के दिनों में बाहर अपने आँगन में। लेकिन जब नगाड़े की आवाज़ आती थी तो मुश्किल था रुकना मेरे लिए। पलंग के नीचे से निकल करके ऊपर लैट्रिन था कोने में मकान के ऊपर। उस पर से कूद करके किसी सूरत से वहां पहुंच गया रात को। देखा और नमाज के लिए घर के लोगों के उठने के पहले ही डर के मारे वैसे ही आकर सो गया। लोगों ने सोचा सोया है कोई बात नहीं। मगर भिश्ती था हमारे घर का। उसको प्यार तो मुझसे बहुत था मगर उसने हमारे चाचा से कह दिया कि "शाहज़ादे रात तख़त के पास खूब सर हिला रहे थे।" उन्होंने कहा—'नहीं, वो तो सो रहा था।" उसने कहा—"अरे साहब नहीं, वो तो नगाड़े की धुन पर तख़त के सामने खूब मस्त हो रहा था।" चाचा उन दिनों खूंटी वाली खड़ाऊँ पहनते थे। खड़ाऊँ ले करके सर फोड़ दिया मेरा, खूब मारा। तो नौटंकी यह होती है। स्वांग में नगाड़ा नहीं होता, ढोलक होती है पर वह भी कम नहीं। स्वांग को देसी भी कहते हैं। एक और चीज़ होती है "कलगी और तुर्रा"। इसे चंग पर गाते हैं और जवाब-सवाल होता है। असल में इन चीजों का अपना मज़ा है। गाने के बोल, चंग, ढोल या नगाड़े की आवाज़ सब मिलकर चुम्बक की तरह मन को खींच लेते हैं। आज भी वह ताक़त इनमें है।"

पहले सुनी चंग, ढोलक और नगाड़ों की थापों को याद करके हमारा मन भीतर ही भीतर एक आनन्द का अनुभव कर रहा था। हम सोच रहे थे कितना डूबकर इस इन्सान ने थियेटर किया, उससे कितना पाया, उसे कितना दिया। फिदा हुसैन साहब ने ५० वर्षों तक थियेटर में काम किया। अवश्य ही उससे अपनी रोज़ी-रोटी चलाई पर थियेटर उनके लिए रोज़-रोटी के साधन तक ही सीमित न था, उससे अधिक बहुत कुछ था। उनके अन्दर के गायक को तृप्ति दी थियेटर ने, अन्दर के अभिनेता को व्यक्त करने का आधार दिया थियेटर ने। सच पूछिए तो उन्होंने थियेटर को ज़िन्दा रखा, थियेटर ने उन्हें ज़िन्दा रखा। उन्होंने न ही समाज-सुधार या देशप्रेम के प्रचार का बीड़ा उठाया और न ही थियेटर को उन्नत करने का पर उन्होंने व्यवहार में जो कुछ किया उससे समाज का भी भला हुआ, देश का भी और थियेटर का भी। चरित्र की जिस निर्मलता पर उन्होंने बल दिया, जिन कम्पनियों में रहे वहाँ जैसे आचरण का उन्होंने आग्रह किया उसका अवश्य ही समाज पर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने लम्बे अरसे तक पारसी थियेटर की जीवन्त परम्परा को क़ायम रखा। पारसी थियेटर ने पब्लिक के मनोरंजन को ध्यान में रखा और उस दृष्टि से नाच-गाने और करिश्मा का समावेश किया। पब्लिक की ओर अधिक नज़र होने के कारण थोड़ा हलकापन आना स्वाभाविक था और वह आया इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। तथापि हिन्दी थियेटर के इतिहास का एक बड़ा हिस्सा पारसी थियेटर का ही इतिहास है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। यदि हम सन् १८५० से हिन्दी थियेटर की शुरुआत मानें तो तबसे लेकर सन् १९५० के आस-पास तक के सौ वर्षों में थियेटर जीवित था पारसी थियेटर कम्पनियों के माध्यम से। इस सारे दौर में दूसरा कोई व्यावसायिक मंच नहीं था। शौक़िया दल शौक़िया थे, सुविधानुसार, आवश्यकतानुसार उठते थे, समाप्त होते थे। अवश्य ही पारसी दलों की अतिरंजित विषय-वस्तु और शैली का बीसवीं सदी में विरोध हुआ और आधुनिक रंगमंच का विकास उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ तथापि इसी ने क़रीब सौ वर्षों तक थियेटर की परम्परा को चालू रखा, कड़ी को जोड़े रखा। फिदा हुसैन साहब एक तरह से उस शृंखला की अन्तिम कड़ी थे, हैं। उनकी निष्ठा, लगन, सच्चरित्रता, क़ौमी एकता की भावना, उदारता आदि अनुकरणीय हैं। केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी ने सन् १९८५ का अकादमी पुरस्कार फिदा हुसैन साहब को देकर उनका सम्मान किया। हम भी उन्हें इस अवसर पर बधाई देते हैं, प्रणाम करते हैं और कामना करते हैं कि ईश्वर उन्हें बहुत अरसे तक हमारे बीच बनाये रखे।

एक परिचय

अंगूरबाला (१८८९-१९८४)—गायिका एवं अभिनेत्री। पिता ने नामकरण किया था प्रभावती। अपने मोठे सुरीले कण्ठ के कारण आप सार्थक रूप से अंगूरबाला हो गयीं। जित प्रसाद एवं उस्ताद रामप्रसाद मिश्र की देख-रेख में गायन का पहला दौर प्रारम्भ हुआ तथापि अंगूरबाला का पूर्ण विकास हुआ काज़ी नज़रूल इसलाम के सान्निध्य में। सारे जीवन वे संगीत क्षेत्र में छायी रहीं। पहले मंच पर तथा बाद में रेकार्ड एवं आकाशवाणी की गायिका के रूप में सम्मानित अंगूरबाला अन्त तक संगीत साधना में रत रहीं। गहरी आत्मानुभूति एवं स्वतन्त्र मनोवृत्ति उनकी थी। अविवाहित रहकर वे स्वाधीन रूप से संगीत साधना करती रहीं।

अब्दुल रहमान काबुली—पारसी रंगमंच के सुप्रसिद्ध अभिनेता। इनके पूर्वज दो-तीन पीढ़ी पहले काबुल से आकर लाहौर में बस गये थे। ये सोहराबजी ओगरा के शिष्य थे और सन् १९१६ में 'वीर अभिमन्यु' नाटक में भीम की भूमिका में अभिनय करके आपने ख्याति प्राप्त की। भीम के जैसा विशाल शरीर था और शेर की सी दहाड़ती आवाज़। डायरेक्टर महबूब की फिल्म में अभिनय करने वाले कलाकार की आपत्ति करने के बावजूद आवाज़ आपकी ही दी गयी थी। आगा हश्र के नाटक 'धर्मी बालक' में कैलाशनाथ की भूमिका में अभिनय करके आपने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। स्वभाव की हेकड़ी के कारण अब्दुल रहमान काबुली की लोगों से पटती नहीं थी। सन् १९४० में ७० वर्ष की उम्र में बम्बई में निधन हुआ।

अमीना खातून—गायिका एवं अभिनेत्री। कलकत्ता के मूनलाइट थियेटर में काम किया और 'हीर-रांझा' में हीर तथा 'पूरन भगत' नाटक में सौतेली मां लूना का पार्ट किया। अमीना थियेटर में विशेष कामयाब नहीं रहीं और बाद में कव्वाली पार्टी बनाकर उसी में व्यस्त रहीं।

अहीन्द्र चौधुरी (१८९५-१९७४)—'नटसूर्य' उपाधि से विभूषित अभिनेता एवं परिचालक। सन् १९२३ में सर्वप्रथम 'कर्णार्जुन' नाटक में मंच पर उतरे। मंच एवं रजतपट पर 'कर्णार्जुन', 'शाहजहाँ', 'चाँदसदागर', 'चन्द्रगुप्त', 'सिराजुद्दौला', 'तटिनीर बिचार', 'चिरकुमार सभा', 'शेष उत्तर', 'डाक्तार', 'कंकाबतीर घाट' में उल्लेखनीय अभिनय किया। रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय के प्रारम्भ होने पर उसके नाट्य

विभाग के प्रथम अध्यक्ष थे। सन् १९५८ में संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुए।

आगा हश्र काश्मीरी (१८७९-१९३४)—पारसी रंगमंच के सुप्रसिद्ध नाट्यकार। उर्दू एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में समान दक्षता के साथ नाट्य रचना की। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आपके नाटकों की मंच पर धूम थी। आपकी रचनाओं में 'सीता बनवास', 'खूबसूरत बला', 'यहूदी की लड़की', 'सफेद खून', 'भागीरथ गंगा', 'प्रेमी बालक' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

इन्दुबाला देवी (१८९८-१९८४)—अभिनेत्री एवं गायिका। रागप्रधान बांग्ला गीत गाने के लिए विशेष प्रसिद्ध।

एलिजर—यहूदी थे। अपने समय के श्रेष्ठ दुखान्त अभिनेता थे। हिन्दुस्तान की पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' में एक महत्वपूर्ण भूमिका में अभिनय किया। नशे के कारण आवाज खराब होती गई। सन् १९३२ में बम्बई में देहान्त हुआ।

कज्जन—अपने समय की मंच एवं फिल्म की लोकप्रिय अभिनेत्री। इनका असली नाम जहांनआरा था। नीली आँखों के कारण कज्जन नाम पड़ा। इनकी माँ सुग्गन बड़ी खूबसूरत थीं। उनका सम्बन्ध भागलपुर के नवाब छम्मी साहब से था। कज्जन उन्हीं की सन्तान थीं। मूक फिल्मों के ज़माने में कज्जन इंटरवल के समय मेडन कम्पनी की तरफ से खंजरी पर डांस करती थीं। सन् १९३१ में टाकी शुरू हुई। टाकी फिल्म की पहली नायिका जुबेदा थीं और दूसरी कज्जन। 'आलमआरा' में कज्जन ने बहुत सुन्दर काम किया। बाद में हड्डियों में टी० बी० हो गयी और सन् १९४६ में मुहर्रम के दिन इनका देहान्त हो गया।

कमला झरिया (१९०६-१९७१)—गायिका एवं अभिनेत्री। झरिया में जन्म। उस्ताद जमीरूद्दीन एवं तुलसी लाहिड़ी से संगीत की शिक्षा प्राप्त की। कीर्तनअंग एवं रागप्रधान के प्रचुर रेकार्ड हैं। करीब बीस वर्षों तक लगातार रेडियो पर राज्य करती रहीं। फिल्मों में भी अभिनय किया।

कमलापत सिंहानिया—कानपुर के सुप्रसिद्ध उद्योगपति एवं कला-पोषक।

कानन देवी—सुप्रसिद्ध गायिका-अभिनेत्री। हिन्दी एवं बंगला की अनेक फिल्मों में सफल अभिनय कर चुकी हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं—'स्ट्रीट सिंगर', 'मुक्ति', 'ज़माना', 'अस्पताल'।

कृष्णचन्द्र दे (१८९३-१९६२)—अंध गायक एवं अभिनेता। एक हजार से अधिक गाने के रेकार्ड हैं। साथ ही 'देशेर माटी', 'चण्डीदास' देवकी कुमार बसु की हिन्दी फिल्म 'सीता', 'देवदास', 'भाग्यचक्र', 'माया', 'धूपछांओं', 'सापुड़े', 'नारी' आदि फिल्मों में अभिनय किया। सीता, विरह, विद्यासुन्दर, प्रफुल्ल, पर पारे, सोनार

संसार, शर्मिष्ठा, चाणक्य, शकुन्तला आदि फिल्मों में संगीत निर्देशन किया। कीर्तन-गायक के रूप में कृष्णचन्द्र दे अत्यन्त जनप्रिय थे।

खुरशेदजी बालीवाला—सुप्रसिद्ध हास्य अभिनेता। जहाँगीर जी खम्भाता के साथ मिलकर आपने बम्बई में ताड़देव में सन् १९६४-६५ में बालीवाला थियेटर हाउस की स्थापना की। यह थियेटर 'हरिश्चन्द्र' नाटक की कमाई से बना। विनायक प्रसाद तालिब के इस लोकप्रिय नाटक में हुरमत जी तांत्रा हरिश्चन्द्र की भूमिका करते थे और बालीवाला नक्षत्र बनते थे।

चारु राय (१८९०-१९७१)—चित्रकार, मंच-परिकल्पक एवं चलचित्र परिचालक। दैनिक समाचार पत्र में व्यंग्य चित्रकार के रूप में जनप्रिय हुए। तत्पश्चात 'मुक्तार-मुक्ति' नाटक के कला निर्देशक के रूप में ख्याति अर्जित की। शिशिर कुमार भादुड़ी के सुविख्यात नाटक 'सीता' की अभिनव मंच-परिकल्पना के कारण चारु राय का ऐतिहासिक महत्व है। उन्हें इस कलात्मक सृजन के लिये पर्याप्त ख्याति भी प्राप्त हुई। हिमांशु राय के प्रारम्भिक अनेक चित्रों में कला निर्देशक की भूमिका का निर्वाह किया। सन् १९२८ में बनी फिल्म 'श्रो आफ डाइस' में नायक की भूमिका अदा की। चारु राय द्वारा निर्देशित फिल्मों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त है 'बांगालि' (१९३६)।

छबि विश्वास (१९००-१९६२)—अभिनेता। प्रारम्भ में शिशिर कुमार भादुड़ी के साथ मंच पर अभिनय किया। सन् १९३६ में सर्वप्रथम 'अन्नपूर्णार मन्दिर' में अभिनय करके फिल्म जगत में पदार्पण किया। छबि विश्वास द्वारा अभिनीत फिल्मों में 'काबलीवाला', 'देवी', 'जलसाघर', 'कंचनजंघा', 'हेड मास्टर' आदि उल्लेखनीय हैं। सन् १९५९ में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार द्वारा सम्मानित।

जहाँगीर जी खम्भाता—दुखांत अभिनय करनेवाले श्रेष्ठ कलाकार। हास्य अभिनेता खुरशेद जी बालीवाला के साथ मिलकर बम्बई में ताड़देव में सन् १९६४-६५ में बालीवाला थियेटर हाउस की स्थापना की। दीर्घकाल तक अभिनय किया।

जुबैदा (१)—बर्मी मां और हसनैन मीर साहब की बेटी जिनका जन्म रंगून में हुआ। राजकपूर की फिल्म 'आवारा' और हसनैन की फिल्म 'दिल' में क्रमशः छोटी नरगिस और छोटी नूरजहाँ की भूमिका अदा की। बड़ी होकर कलकत्ता के मूनलाइट थियेटर में हिरोइन बनीं। आवाज बहुत सुरीली थी। मूनलाइट में 'कृष्ण लीला' नाटक में राधा की भूमिका अदा करके बहुत ख्याति प्राप्त की।

जुबैदा (२)—सुप्रसिद्ध अभिनेत्री पुतली की छोटी बहन जरीना की बेटी। स्वयं कुशल एवं सफल अभिनेत्री थीं। मूक फिल्मों में काम किया और बाद में सन् १९३१ में जब पहली टॉकी फिल्म 'आलमआरा' बनी तो उसमें नायिका की भूमिका अदा की।

तापस सेन (१९२४-)—सुप्रसिद्ध आलोक निर्देशक। अपनी कल्पनापूर्ण आलोक रचना के द्वारा नाटक एवं अन्य प्रदर्शनों को नया आयाम देने में अपूर्व कुशलता से समन्वित।

दिनशा जी ईरानी—रंगमंच पर ट्रिक सीन एवं मायाजाल की सृष्टि का सूत्रपात करने वाले दिनशा जी ही थे। अपने जमाने में अद्‌भुत ट्रिक दृश्यों की रचना इन्होंने की। दर्शकों के सामने धड़ से गरदन अलग हो जाना, पार्वती के मैल के पिंड से देखते-देखते गणेशजी बन जाना आदि इन्हीं की करामात का फल था। परवर्तीकाल में जादूगर मीनू कात्रक तथा छैला सरकार आदि इन्हीं के शिष्य थे। पेंटर बहुत अच्छे नहीं थे पर ट्रिक दृश्यों की रचना करने में अद्‌भुत कुशलता हासिल थी। कलकत्ता के सुप्रसिद्ध पेंटर नानू बाबू दिनशा जी के ही शिष्य थे। सन् १९४४ में आपका निधन हुआ।

दुर्गादास बंद्योपाध्याय (१८९३-१९४३)—अभिनेता। सन् १९२३ में स्टार थियेटर में 'कर्णार्जुन' नाटक में सर्वप्रथम मंच पर उतरे। अत्यन्त सुन्दर एवं व्यक्तित्व-सम्पन्न इस अभिनेता ने रंगमंच एवं रजतपट दोनों पर ही बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। उनके द्वारा अभिनीत श्रेष्ठ नाटकों में 'कर्णार्जुन', 'जना', 'चिरकुमार सभा' तथा 'चाषिर मेये' उल्लेखनीय हैं। फिल्मों में उल्लेखनीय हैं 'देना पावना', 'चिरकुमार सभा', 'मीराबाई', 'भाग्यचक्र', 'दिदि', 'विद्यापति', 'प्रिय बांधवी' आदि।

देवकीकुमार बसु (१८९८-१९७१)—प्रारम्भ में राष्ट्रीय विचारधारा के पत्रकार थे। बाद में पटकथा लेखक एवं चलचित्र परिचालक के रूप में कार्यरत हुए। सन् १९३२ में न्यू थियेटर्स की 'चंडीदास' फिल्म की परिचालना करके प्रतिष्ठा प्राप्त की। देवकी कुमार बसु द्वारा परिचालित फिल्मों में 'सोनार संसार', 'सापुड़े', 'नर्तकी', 'कवि', 'रत्नदीप', 'चन्द्रशेखर', 'पथिक', 'चिरकुमार सभा' तथा 'सागर संगमे' हैं। अन्तिम फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन् १९६५ में पद्मश्री की उपाधि से सम्मानित हुए।

मास्टर निसार—सुप्रसिद्ध गायक अभिनेता। महिला भूमिकाएँ करने में बड़े कुशल थे। शास्त्रीय संगीत के उस्ताद देहली के तानरस खाँ के ये वंशज थे। सन् १९१५ से १९३४-३५ तक मास्टर निसार पारसी रंगमंच पर छाये रहे, बहुत उन्नति की। इनकी आवाज हारमोनियम के पर्दों से भी ऊपर जाया करती थी। नाना प्रकार के नशों ने मास्टर निसार को बर्बाद किया। अन्त अच्छा नहीं रहा। ६२ वर्ष की उम्र में बम्बई में निधन हुआ।

सर पदमपत सिंहानिया—कानपुर के सुप्रसिद्ध उद्योगपति एवं कला-पोषक।

पृथ्वीराज कपूर (१९०६-१९७२)—हिन्दी रंगमंच एवं फिल्म के अन्यतम अभिनेता। पृथ्वीराज कपूर ने समान कुशलता एवं सफलता के साथ रंगमंच एवं रजत

पट पर अभिनय किया। पृथ्वी थियेटर्स के माध्यम से पृथ्वीराज ने मंचन एवं अभिनय की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच को नया धरातल, नया आयाम प्रदान करने का प्रयत्न किया। आधुनिक हिन्दी रंगमंच के इतिहास में पृथ्वीराज एवं पृथ्वी थियेटर्स का योगदान अविस्मरणीय रहा है। आपने स्वतन्त्र रूप से या अन्य लोगों के साथ कुछ नाटक भी लिखे। आपके नाटकों में 'शकुन्तला', 'पठान', 'दीवार', 'गद्दार' आदि तथा फिल्मों में 'सिकन्दर', 'दुनिया न माने', 'दहेज', 'कल, आज और कल' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सुप्रसिद्ध अभिनेता राजकपूर, शम्मी कपूर एवं शशि कपूर आपके पुत्र हैं।

पेशेन्स कूपर—सुप्रसिद्ध नर्तकी और अभिनेत्री। ये तीन बहनें थीं। सन् १९२६-२७ में मैडन कोरन्थियन कम्पनी ने १२ एंग्लो इण्डियन लड़कियों को नाच के लिए रखा। मास्टर चम्पालाल ने इन्हें नृत्य की शिक्षा दी। पेशेन्स कूपर ने कम्पनी के साथ देश के विभिन्न भागों का दौरा किया और खूब नाम कमाया। पेशेन्स कूपर बहुत खूबसूरत थीं। बाद में इन्होंने चाय के एक बड़े व्यापारी इस्फहानी साहब से शादी कर ली। पाकिस्तान बनने के बाद ये चिटागाँव चली गयीं और वहीं सन् १९५४ में आपका देहान्त हो गया।

प्रफुल्ल राय (१८९१-१९७५)—अभिनेता एवं चलचित्र परिचालक। शिशिर कुमार भादुड़ी के 'सीता' नाटक में अभिनय किया। 'पुनर्जन्म' नाटक में भी अभिनय किया। हिमांशु राय की प्रारम्भिक अनेक फिल्मों में अभिनय करने के उपरांत स्वयं फिल्म निर्देशन की ओर उन्मुख हुए। प्रफुल्ल राय द्वारा परिचालित फिल्मों में मूक 'चाषार मेये' (१९३१) तथा प्रथम सवाक् फिल्म 'चांद सदागर' (१९३४) उल्लेख योग्य हैं।

प्रभा देवी (१९०३-५२)—सुप्रसिद्ध अभिनेत्री। सन् १९१५ में बंगाल थियेटर में अभिनय करना प्रारम्भ किया। शिशिर कुमार भादुड़ी द्वारा निर्देशित 'सीता' 'आलमगीर', 'पल्ली समाज', 'रीतिमतो नाटक' आदि नाटकों में मुख्य भूमिकाओं में अभिनय करके प्रभा देवी ने प्रचुर यश प्राप्त किया। अन्तिम दिनों में बिजन भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित नाटक 'कलंक' तथा ऋत्विक घटक निर्देशित फिल्म 'नागरिक' में वास्तवधर्मी अभिनय करके उन्होंने श्रेष्ठ अभिनेत्री का गौरव प्राप्त किया।

प्रमथेश बरुआ (१९०३-१९५१)—चलचित्र परिचालक एवं अभिनेता। आसाम के गौरीपुर के राजकुमार। आसाम विधान सभा के सदस्य भी थे। सन् १९३३ में न्यू थियेटर्स में आए एवं 'देवदास', 'गृहदाह', 'मुक्ति', 'रजत जयन्ती' प्रभृति जनप्रिय चित्रों की परिचालना की। अपनी फिल्मों में मुख्य भूमिका में अभिनय करके कुशल अभिनेता के रूप में भी ख्याति प्राप्त की।

फिदा हुसैन पेंटर—सुप्रसिद्ध स्टेज पेंटर।

बिजली—संभवतः पारसी रंगमंच पर काम करनेवाली पहली महिला कलाकार। सन् १९०९-१९१० में बालीवाला कम्पनी ने सर्वप्रथम जिस महिला कलाकार को लिया वह थीं बिजली।

मनोरंजन भट्टाचार्य (१८८९-१९५४)—शिशिर युग के सुप्रसिद्ध अभिनेता जिन्होंने 'सीता' नाटक में महर्षि वाल्मीकि की भूमिका इतनी सफलतापूर्वक की कि लोग इन्हें महर्षि कहने लगे। मनोरंजन भट्टाचार्य व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक दोनों रंगमंच पर समान रूप से लोकप्रिय रहे। सुप्रसिद्ध बहुरूपी नाट्यदल के साथ आजीवन सम्बद्ध रहे। 'सीता' के अतिरिक्त 'आलमगीर', 'विसर्जन', 'चन्द्रगुप्त', 'षोड़शी', 'रघुवीर', 'साजाहान' (शाहजहाँ) आदि नाटकों में आपने श्रेष्ठ अभिनय किया।

महेन्द्र गुप्त (१९१०-१९८४)—नाट्यकार, अभिनेता एवं निर्देशक। सन् १९३९ में 'गयातीर्थ' नाटक के द्वारा आपने अपनी यात्रा प्रारम्भ की। स्टार, मिनर्वा, रंग-महल प्रभृति रंगमंचों से ही नहीं वरन् बंगाली लोक नाट्य तथा सिनेमा से भी महेन्द्र गुप्त युक्त थे। अपने 'महाराज नन्दकुमार' नाटक के लिये वे जेल गये। नाट्यदल सप्तपर्णा [१९६२] का गठन करके महेन्द्र गुप्त ने जगह-जगह नाटक किये। महेन्द्र गुप्त आपादमस्तक नाट्यकार, निर्देशक एवं अभिनेता थे, उनका सारा जीवन नाट्यमय था।

मेरी फैन्टम—एंग्लो इण्डियन कलाकार। कावसजी खटाऊ की एलफ्रेड कम्पनी में काम शुरू किया। बाद में उनसे विवाह हो गया और काम छोड़ दिया। मेरी फैन्टम बहुत खूबसूरत थीं।

मौली—एंग्लो इण्डियन नर्तकी जो सन् १९३९ में देहली में मास्टर चम्पालाल से नाच सीखकर खूब प्रसिद्ध हुईं। सन् १९४२ में कानपुर में आठ महीना फिदा हुसैन साहब की नरसी थियेटर कम्पनी में काम किया पर अनुशासन और कड़ाई के कारण वहाँ टिक नहीं पायीं। बाद में अन्य कई कम्पनियों में काम किया।

रघुबीर साहूकार—महाराष्ट्र के रहने वाले। स्त्री भूमिकाओं में अभिनय करते थे। इतने सुन्दर थे कि लोग देखते ही रह जाते थे। बाल गंधर्व की मराठी कम्पनी में काम किया। न्यू एलफ्रेड से जाने के बाद अपनी कम्पनी बनाई जिसने वर्षों महाराष्ट्र में शान से काम किया। रघुबीर साहूकार बड़े ऊँचे चरित्रवाले थे, अनेक साथियों ने [जिनमें मास्टर फिदा हुसैन भी शामिल थे] उनका अनुकरण किया।

रविशंकर (१९२०—)—भारतीय शास्त्रीय संगीत के अन्यतम सर्जक सितारवादक रविशंकर। श्रेष्ठ कलात्मक सृजन में विशिष्ट। सितारवादन, वाद्य समूह के लिये संगीत रचना एवं उसका संचालन तथा पृष्ठभूमि संगीत की रचना आदि विभिन्न क्षेत्रों

में महत्वपूर्ण योगदान। पश्चिमी संगीत एवं भारतीय संगीत परम्परा के समन्वय का प्रयत्न।

व्ही० शांताराम (१९०१—)—सुप्रसिद्ध फिल्म निर्माता, निर्देशक एवं अभिनेता। शांताराम अधिकांश फिल्में विशेष उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बनाते हैं। इनमें 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी', 'झनक-झनक पायल बाजे', 'दो आँखें बारह हाथ', 'गीत गाया पत्थरों ने' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

शरीफा—पारसी रंगमंच की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री। मैडन कोरन्थियन कम्पनी के 'आँख का नशा' और 'दिल की प्यास' नाटकों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। शरीफा ने जिन्दगी में अनेक उतार-चढ़ाव देखे, अनेक सम्बन्ध बनाये-तोड़े। बाद में बम्बई में अपना मकान बनाकर जीवन के शेष दिन शरीफा ने वहीं बिताये। सन् १९६८ में दुनिया से विदा ली।

सीता देवी—बांग्ला एवं हिन्दी रंगमंच की लोकप्रिय अभिनेत्री। बांग्ला से अधिक हिन्दी नाटकों में काम किया। दीर्घकाल तक मूनलाइट थियेटर से सम्बद्ध रहीं। कोकिल-कंठी गायिका। उस ज़माने में अनेक रेकार्ड बने थे। हिन्दी, उर्दू, बांग्ला, पंजाबी, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं में गीत गाये। आगा हश्र के 'सीता बनवास' नाटक में सीता की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

सुनील दत्त—सुप्रसिद्ध फिल्म अभिनेता। अभिनय के साथ-साथ जन कल्याण के कामों में भी रुचि रखते हैं। सन् १९८४ में संसद सदस्य चुने गये हैं।

सुलताना—कॉमिक नाटकों की सुप्रसिद्ध नायिका। ये तीन बहनें थीं-सुलताना, रज़िया व मीनू। सुलताना का थियेटर में नाम था मीना और फिल्मों में शकुन्तला। सन् १९३९ में तीनों बहनें कलकत्ता आ गयीं और माणिक लाल की कम्पनी में काम शुरू किया। बाद में दुखांत नाटकों में भी नायिका की भूमिका अदा की—तैयार कराने का काम किया मास्टर फिदा हुसैन ने। इनकी बेटी अमिता फिल्मों में काम कर रही है। सुलताना बम्बई में ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर कर रही हैं।

सोहराब मोदी (१८९७-१९८४)—सुप्रसिद्ध फिल्म निर्माता एवं अभिनेता। अपने भाई रुस्तमजी मोदी की आर्य सुबोध थियेटर कम्पनी में अभिनय किया। इसमें शेक्सपीयर के नाटकों के उर्दू रूपांतर प्रस्तुत किये जाते थे जिनमें सोहराब मोदी मुख्य भूमिकाओं में अभिनय करते थे। सन् १९३२ में कम्पनी बन्द हो गयी। थियेटर की स्टाइल में ही हैमलेट के उर्दू रूपांतर 'खून का खून' पर फिल्म बनायी। लम्बे अरसे तक सफलता पूर्वक फिल्में बनायीं एवं उनमें काम किया।

सोहराबजी ओगरा—जिन्हें आमतौर पर सब लोग सोहराब जी सेठ कहा करते थे। पारसी रंगमंच के श्रेष्ठ हास्य अभिनेता। साथ ही श्रेष्ठ निर्देशक। पारसी रंगमंच

सुलताना (मीना) - 2 [illegible] - मीनू
|
अमिता

के कड़े अनुशासन को लागू करने वाले भी सोहराब जी ही थे। पारसी रंगमंच के सभी श्रेष्ठ नाट्यकार, अभिनेता, संगीत निर्देशक तथा पेंटर आदि की खोज करने वाले तथा उनसे काम लेनेवाले सोहराब जी ओगरा थे। मेंहदी हसन, आगा हश्र काश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक तथा मुंशी मुराद जैसे नाट्यकारों को लोकप्रिय बनाने में आपका महत्वपूर्ण हाथ था। सोहराब जी कात्रक [जिनकी आवाज रात के सन्नाटे में एक मील दूर तक सुनाई पड़ती थी], दोराब जी मेवेवाला, एलिजर, अब्दुल रहमान काबुली, मास्टर निसार, मास्टर भगवानदास, लाला जगन्नाथ, फिरोज शाह पेठेवाला, रघुबीर साहूकार, मास्टर फिदा हुसैन जैसे अभिनेताओं को मंच पर लाने और उनसे श्रेष्ठ अभिनय करवाने का श्रेय भी सोहराब जी ओगरा को है। इनके साथ ही वज़ीर खाँ, झण्डे खाँ [नौशाद के पिता], नवाब खाँ, निहालचन्द गुजराती प्रभृति संगीतकार एवं सगीत निर्देशक और उस्ताद हुसैन बख्श, दिनशा जी, वासुदेव दिवाकर, मुहम्मद आलम, ठाकुर सिंह, हरिसिंह प्रभृति पेंटर भी सोहराब जी के शागिर्द थे, उनकी देखरेख में काम करके आगे बढ़े। सोहराब जी ओगरा ने इज्जत की जिन्दगी बसर की और सन् १९३० में बम्बई में परलोक सिधारे।

हीराबाई बड़ोदकर—शास्त्रीय संगीत की सुप्रसिद्ध गायिका।

हीराबाई—एम्पायर थियेट्रिकल कम्पनी में काम करनेवाली अभिनेत्री। सन् १९२५ में कम्पनी बन्द होने पर विवाह करके घर-गृहस्थी लेकर आजीवन रहीं। सन् १९३२-३३ में मृत्यु हो गयी।

हुसैन बख्श पेंटर—पारसी रंगमंच के सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त पेंटर। आपके रंगे हुए दृश्यों को देखकर उनके वास्तविक होने का भ्रम होता था और लोग मन्त्रमुग्ध से देखते रह जाते थे। सन् १९११ में दिल्ली में हुए दरबार के समय आयोजित ऑल वर्ल्ड आर्ट एक्जिबिशन में सोहराब जी के अनुरोध पर आपने दो चित्र भेजे थे—काले बीजों सहित तरबूज की फांक तथा पीतल का मुसलमानी टोंटीदार लोटा। धूप में सुखाने के लिये रखे गए पहले चित्र को कौए ने असली तरबूज की फांक समझा और चोंच चलायी। इस चित्र को प्रदर्शनी में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। महाभारत में आप द्वारा बनाये गये दुर्योधन के हौज में गिरने वाले दृश्य को लोग सदा याद करते रहे। सन् १९३२ में आपका इन्तकाल हुआ।

हुस्नबानो—सुप्रसिद्ध अभिनेत्री शरीफा की लड़की एवं स्वयं एक कुशल अभिनेत्री।

[पारसी थियेटर से सम्बद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमें उपर्युक्त जानकारी मुख्यतः मास्टर फिदा हुसैन से प्राप्त हुई है।]

मलकवेकालों की परेशानी 15

टिकट दरें 15, 42, 52, 56

तर्जें और बोल संगीत का महत्व 14-15, 64-5

निर्माण और अभिनेताओं का महत्व 3

कल्पना और कहानी 49-51

मोतीलाल, कोरस के पिता - [illegible] (opp. page)

पारसी थियेटर में संगीत 63-

रैकर्डों के लिए royalty 76

चौरंगी, विवाह 77 विवाह में नाच नहीं

होता

न्यू अल्फ्रेड मिलिटरी कैम्प 11 [illegible] 19-

पारसी थि. : [illegible] : विदेशी inspiration 13

आलोचना से मतलब नहीं 14 संगीत : 14

नाटक का प्रभाव : ईश्वर प्रेम 14 loud स्वर 14, 65

कोरस , 37 डायरेक्टरों की [illegible] 54

न्यू अल्फ्रेड में 12 साल : फिर अल्फ्रेड में 47 (मैडन, मुंबई)

मज़हर 1948